

ममता

तथा शरद की आठ दूसरी कहानियाँ



शरद की अन्य पुस्तकें

उपन्यास

अंतिम बेला

नाता-रिश्ता

खूनखराबी

मिटती छाया

आँचल का आसरा

दादा

कहानियाँ-स्केच

लंका महराजिन

खां साहब

कच्ची नींद

झपकियाँ

स्पंदन

हमारा गाँधी वापस करो !

अनु० उपन्यास

अन्नपूर्णा (Good earth)

मेरा बचपन (My childhood)

यह दुनिया ! (In the world)

नया बसंत (Springtime in saken)

चरित नायक (A hero of our time)

नारी का रूप (The women of the lies)

अनु० कहानियाँ

धूप छाँह

जीवनियाँ

नारी गौरव

स्वतन्त्र करने वाले

सम्पादित

सेवा ग्राम (चित्रावली)

ममता

(नव कहानियाँ)

लेखक

श्री ओंकार शरद



प्रकाशक

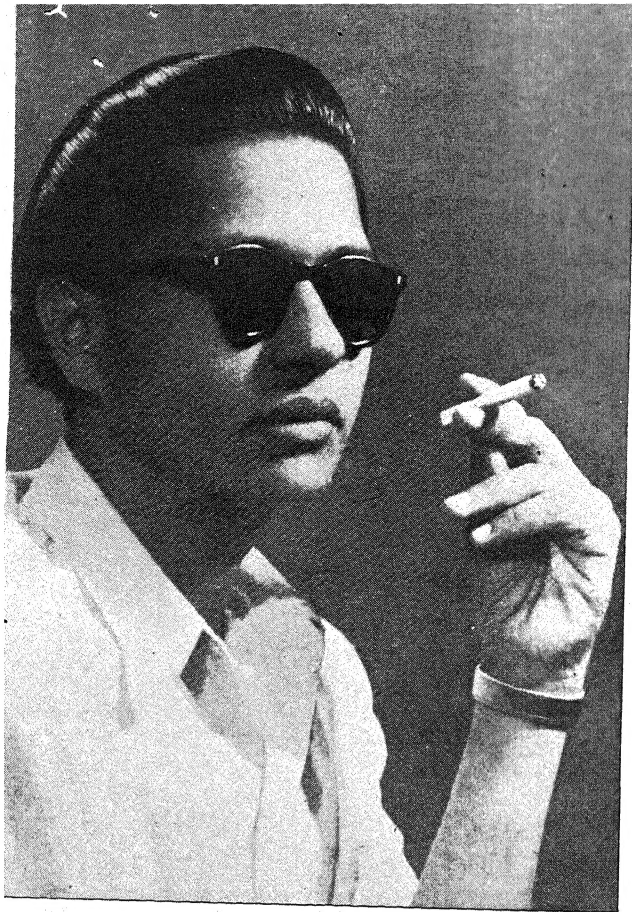
मनोरम प्रकाशन संस्थान

इलाहाबाद

मूल्य २)

प्रकाशक—मनोरम प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद

मुद्रक—दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, जीरोरोड, इलाहाबाद



शरद

पं० इलाचन्द्र जोशी

को सादर

—शरद

क्रम

ममता

केवल दो दिन की मेहमान बनकर वह आई थी। और आज शाम की गाड़ी से वह चली भी जायगी।

बस! इससे आगे श्रीधर कुछ सोच भी नहीं पाता। और सोचे भी क्या? सोचने से कुछ लाभ तो होगा नहीं। वह रुक तो जायगी नहीं। फिर वह क्यों सोचे? लेकिन वह न जाती तो अच्छा था।

अपने इस विचार पर उसे कितनी हँसी आई। अपने आप पर वह झुँझला गया। ऐसी भावुकता भी क्या? वह यहाँ रहने थोड़े ही आई है। और उसके आग्रह पर वह दो दिन इस देहाती घर में रह गई यही क्या कम था?

सोचते हुए श्रीधर, सामने टूटी हुई आराम कुर्सी पर थकी-सी सोई हुई ममता को देखने लगा। आज सुबह से वे दोनों खेत-खेत जाकर कितना चक्कर लगा आए। ममता की भला इतना पैदल चलने की आदत कहाँ? सो थक कर वह बातें करती हुई सो गई। लेकिन श्रीधर

को नींद की कौन कहे, आँखें भी न झपीं। वह सोचता गया। आज ममता शाम को चली जाएगी। फिर जाने कब भेंट हो। कल आई थी तो कितनी खुशी छा गई थी इस खपड़ैल के नीचे, और चली जाएगी तो कितनी उदासी फैल जाएगी! सो अगर न आती तो अच्छा था और अगर आई...तो अभी न जाए तो अच्छा है।

ममता सो रही है। थकी हुई बन्द आँखें जैसे दो बन्द कमल हों। अभी वह जाग जाएगी तो सारा वातावरण खिल उठेगा। कभी वह एक मिनट को भी चुप नहीं रह सकती। इतनी बक्की लड़की तो जैसे दूसरी कोई न होगी। और उसकी इसी खूबी ने तो श्रीधर को उसकी ओर आकर्षित किया था! यों तो कालेज में सात लड़कियाँ और थीं ' कई ममता से अधिक सौंदर्यमयी थीं, लेकिन उसकी हर समय बात करने की आदत ने ही एक दिन श्रीधर को उसकी ओर गौर से देखने को विवश किया था। ऐसा नहीं कि ममता की सुन्दरता पर वह रीझा रहा हो, परन्तु उसका स्वभाव जाने उसे क्यों इतना आकर्षक लगा था कि उसी दिन से वह उससे बातें करने का अवसर खोजने लगा। और उसके घनिष्ठ परिचय में आकर भी कभी श्रीधर ने ऐसी कोई बात नहीं होने दी कि ममता यह जान पाती कि श्रीधर के हृदय में उसके प्रति मित्रता के सिवा और भी कोई भाव है।

पूरे दो वर्ष तक श्रीधर लगातार मन ही मन उसके प्रति अपनी उपजी ममता को पालता रहा। अक्सर उसने चाहा कि वह अपने भावों को किसी रूप में ममता के सम्मुख रखे, परन्तु पता नहीं क्यों वह कभी वैसा कुछ न कह सका। कालेज के दिनों में श्रीधर और ममता की घनिष्ठता कुछ लोगों के लिए चर्चा का विषय थी, परन्तु इतने पर भी श्रीधर ने कभी कुछ प्रकट नहीं होने दिया। और यह सोचते हुए अचानक श्रीधर को एक सप्ताह पूर्व की ममता की वह बातें याद हो आईं,

जब कालेज बन्द होने वाला था और श्रीधर ममता को छुट्टियों का अपना प्रोग्राम बता रहा था कि वह अधिकतर घर पर ही रहेगा।

ममता ने पूछा था—"तुम्हारा वहाँ देहात में जी लग जाता है ?"

"हाँ, तुम्हें देहात का अनुभव नहीं है न, नहीं तो तुम कभी ऐसा प्रश्न न करतीं। वहाँ के शांत वातावरण के लिये शहर वाले तरसते हैं। वहाँ शहर के बाजारों की जगह लम्बे-लम्बे खेत होते हैं, वहाँ प्रकृति का हँसना सौंदर्य देखो ! मैं तो तुम्हें भी कहूँगा कि कम से कम एक बार तो चल कर एक सप्ताह रहो और देखो कि देहात के दिन भी किस तरह बीतते हैं !"

"एक सप्ताह !" ममता की आँखें फैल गई थीं।

"क्यों, क्या बहुत समय है ?"

"और नहीं तो क्या ? हाँ, यदि कहो तो दो दिन रह लूँ। एक बार तुम्हारा देहात भी देखूँ, जिसकी तुम सदा बड़ाई करते हो।"

"लेकिन क्या तुम्हारे घर वाले तुम्हें जाने देंगे ?"

"क्यों नहीं ? क्या मैं अकेली जाऊँगी ? सभी तो जानते हैं कि तुम भी मेरे साथ होगे। और फिर कोई नई जगह तो नहीं जाना है, तुम्हारे ही घर तो चलना है न ?"

यह सुनकर श्रीधर जाने कैसी खुशी में डूब गया था। उसके मुँह से केवल इतना निकला—

"मैंने सोचा कि शायद मेरे साथ तुम्हारा जाना उजित न समझा जाए।"

"मुझे यही बातें अच्छी नहीं लगतीं। कालेज़ में पढ़-लिखकर भी यदि लड़कियाँ इतनी आजाद नहीं हो पातीं कि कहीं भी आ जा सकें, तो उनका पढ़ना-लिखना बेकार है। तुम तो तुम, किसी के भी साथ

जाने में भला क्या हर्ज है ? लड़कियाँ कोई मिठाई तो हैं नहीं कि कोई खा जाएगा।

"हाँ ठीक कहती हो।" श्रीधर ने बात समाप्त करनी चाही। ममता तनिक खीझी-सी चुप रही तो श्रीधर ने कहा—

"तो, तुम मुझे निश्चित बताना, किस दिन चल सकोगी ?"

"तुम जिस दिन भी चलो। मुझे तैयार ही समझो।"

"हाँ, लेकिन तुम्हें तकलीफ होगी। पहले तो डेढ़ घंटे रेलगाड़ी की यात्रा, फिर ट्रेन छोड़ कर दो मील पैदल। तब हमारा गाँव और गाँव के बीच मेरा छोटा-सा खपड़ों वाला मकान—हाँ, पक्का जरूर है। लेकिन बिजली नहीं है। दिए की रोशनी, धुँधली। पता नहीं कितने दिनों से गंदा पड़ा हो। केवल हमारा एक बहुत पुराना नौकर भर वहाँ रहता है।"

"तो मैं तुम्हारे साथ मिलकर मकान की सफाई कर लूँगी।"

"वाह ! तुम्हें यही करने के लिए ले चलूँगा क्या ? तुम वहाँ नदी के किनारे, खेतों में, अमराइयों में, घूमना और जामुन के नीचे बैठ कर ताजी पेड़ से गिरी जामुन खाना और तब कहना कि देहात मे मन लगता है कि नहीं ?"

इसी प्रकार बातों बातों में ममता तैयार हो गई थी। श्रीधर को आज भी आश्चर्य है कि कैसे उसके घर वालों ने उसे आने की अनुमति दी। श्रीधर को मालूम है ममता के पिता नहीं, माँ भी नहीं, केवल भाई हैं जो अपने ढंग के अकेले ! कभी बहन की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बने। और शादी भी नहीं की है। इसलिए उनका सारा स्नेह-प्यार इस अकेली बहन के ही हिस्से में आ पड़ा है। और ऐसे भाई को राजी कर लेना ममता के लिए शायद कठिन नहीं था। ममता और श्रीधर की घनिष्ठता भी उन्हें मालूम है, परन्तु उन्होंने इसमें भी कभी आपत्ति नहीं उठाई। तो अगर ममता चाहती तो दो से अधिक दिन भी रह सकती थी।

श्रीधर ने सोचा कि ममता से वह और रहने की प्रार्थना करे। शायद ममता मान जाए। श्रीधर जानता है कि ममता उसका कितना आदर करती है। शायद उसके मन में भी श्रीधर की ही तरह उसका स्नेह अपनी सीमा लांघ कर वहाँ पहुँच चुका होगा, जहाँ आज श्रीधर खड़ा है, परन्तु कैसे कहा जाए? इन स्त्रियों के मन की थाह नहीं है। लेकिन यह विचार आते ही श्रीधर के सामने ममता के कई रूप एक साथ जैसे नाच उठे! एक बार उसने कहा था कि वह शादी अपने पसन्द से करेगी। शादी-विवाह के चुनाव में न तो वह समाज जानती है न जाति, बस उसे अपनी पसन्द चाहिए।

तो क्या आज वह ममता से अपने मन की बात बता दे? लेकिन नहीं, उसमें इतनी शक्ति नहीं। कल से, जब से ममता आई है तब से, जाने कितनी बार कण्ठ तक बात लाकर भी वह न कह पाया। इसीलिए सोचता है कि यदि ममता रुक जाती तो शायद हिम्मत करके वह कुछ कह पाता। लेकिन वह जानता है कि न तो वह रुकेगी न वह कह पावेगा। और कहे भी क्यों? क्या यह आवश्यक है कि कहा ही जाए? यदि ममता के हृदय में उसके प्रति तनिक भी मोह है तो वह खुद भी अनुभव कर सकती है।

और अपने व ममता को लेकर श्रीधर इतना उलझ गया कि आगे कुछ न सोचकर वहीं घूम-घूम कर सोचता रहा कि आखिर वह ममता को कैसे रोके या उससे अपनी बातें कह कर कैसे एक फैसला कर ले? पर शायद दो में से एक बात भी सम्भव न हो सकेगी।

तभी ममता ने अंगड़ाई ली और उसकी नींद खुल गई। वह आँखें खोल कर आश्चर्य से ढलते हुए दिन के धुंधले प्रकाश में श्रीधर का परेशान चेहरा देखने लगी।

"कितना बजा होगा?" मुँह पर हाथ रखकर जम्हुआई को रोकते

हुए ममता ने पूछा।

"छः बज रहे हैं।"

"आठ बजे गाड़ी जाती है न?"

"हाँ, आठ ही बजे।" श्रीधर ने यों कहा जैसे आठ कभी न बजते तो अच्छा होता।

क्षण भर बाद जब ममता उठने का उपक्रम करने लगी तो अचानक श्रीधर ने पास आकर पूछा—

"ममता, आज चली ही जाओगी?"

"हाँ, यही तो भैया से भी कह आई थी। वे इन्तजार करेंगे।"

"भैया कुछ भी न कहेंगे यदि तुम एकाध दिन और ठहर जाओ।"

"नहीं श्रीधर, जाना ही चाहिए। सच है कि भैया कुछ न कहें, परन्तु उन्हें यदि बुरा लगा तो..........?"

"तो जैसा तुम चाहो।" श्रीधर हताश होकर कह पड़ा।

ममता तनिक विस्मय से श्रीधर को घूरने लगी। उसका उदास, मलीन चेहरा आज उसे नवीन सा लगा। घबड़ाहट में निकले उसके शब्द उसके अन्तर की उथल-पुथल और मनोदशा का पूरा नक्शा खींचते थे। श्रीधर को इतना उद्विग्न उसने कभी न देखा था। अपने प्रति श्रीधर के मन में उपजी कोमलता से वह पूरी तरह परिचित थी। परन्तु उसकी छाया श्रीधर के चेहरे पर उसने आज ही देखी। श्रीधर का यह रूप देखकर जैसे उसका भी जी तड़प उठा! लगा कि उठ कर वह श्रीधर का सिर अपने से लगा कर और उसे सांत्वना देकर कहे—"मैं चाहे चली भी जाऊँ, पर मेरा मन तुम्हारे ही पास रहेगा।"

पर वह मन की सोची न कर सकी। उसका गला काँपने लगा और उसने पूछा--

"यदि मैं आज न जाऊँ तो तुम खुश होगे? यह बात श्रीधर के

खुश होने के लिए थी, पर उस पर तो बेचैनी की जो छाया पड़ चुकी थी उसमें उसे कुछ भी न समझ आया। उसने कहा—उसी तरह घबड़ाहट में—"नहीं, भैया नाराज़ होंगे, तुम चली जाना।"

रुकना चाह कर भी ममता इसके आगे क्या कहे ? श्रीधर ने तो जैसे सारी बातों में विराम लगा दिया। वह चुप रही। सन्नाटा बढ़ता गया। श्रीधर और ममता बातें करना चाह कर भी कोई विषय न खोज पाए और सन्नाटे के साथ-साथ उनकी बेचैनी भी बढ़ती गई। ममता मन में सोचने लगी कि अब यदि श्रीधर एक बार भी कह दे तो वह अवश्य ही रुक जाएगी।

पर श्रीधर अब किस मुँह से कहे ?

सन्नाटे का साम्राज्य जब बढ़ता गया तो श्रीधर ने पूछा—

"ममता आज तुम बहुत थक गईं थीं न ?"

"हाँ, थकान तो आ गई थी, पर अब बिल्कुल ठीक हूँ।"

"यदि कहो तो चल कर मैं तुम्हें शहर तक छोड़ आऊँ ?"

"नहीं, नहीं तुम्हें कष्ट होगा। मैं अकेली चली जाऊँगी। कौन लम्बा सफर है। केवल डेढ़ घंटे का रास्ता.........।"

अचानक ही ममता यह कह बैठी। यदि क्षण भर सोच लेती तो ये शब्द उसके मुँह से न निकलते। शायद उसके मना करने से श्रीधर के दिल पर चोट आई हो। सोचकर ममता उदास हो गई।

उसकी उदासी को श्रीधर ने देखा, अनुभव किया और सोचा भी। आखिर कैसे बात यों उलझती जा रही है ? श्रीधर लगातार यही सोचता रहा। अन्त में उसने बड़ी हिम्मत बटोर कर कहा

"अच्छा ममता, एक बात बताओ ?"

"क्या ?" ममता जैसे कुछ कहने के लिये तैयार बैठी थी।

"शादी के विषय में तुम्हारे क्या विचार हैं ?"

"कैसे विचार, किसकी शादी ?"

"अपनी शादी के विषय में तुम्हारा क्या विचार है ?"

"शादी कोई आवश्यकता तो है नहीं ?" कहकर ममता ने अर्थ-भरी दृष्टि से देखा।

"नहीं, मैं इसलिए कह रहा था कि पिछले दिनों तुम्हारे भैया भी तो कह रहे थे कि इस वर्ष........।"

"हाँ, कहा होगा, लेकिन अभी हमने फैसला नहीं किया। मेरी शादी मेरी ही पसन्द की होगी।" बीच में ममता ने कहा।

"तो क्या जाति-पाँति का बन्धन न मानोगी ?"

"तुम तो यों पूछ रहे हो जैसे तुम्हें मेरे विचार मालूम ही न हों। मैं जब चुनाव करने चलूँगी तब मैं यह तो नहीं ही देखूँगी कि मैं ब्राह्मण हूँ; अतः किसी ब्राह्मण को ही चुनूँ। मेरे लिये तो जो मेरा अधिक मित्र बना रह सके....बस .....।"

आगे ममता ने क्या कहा सो तो श्रीधर न सुन सका। वह जैसे केवल इसी विचार में डूब गया—वह ब्राह्मण नहीं है और इससे कोई बाधा न होगी—वह सोच ही रहा था कि उसके कानों में ममता के खीझ भरे स्वर पड़े—

"परन्तु तुम आज यह विषय क्यों ले बैठे हो ?"

"यों ही।" श्रीधर ने कह कर जान छुड़ाई।

ममता ने उठ कर पूछा—"अब तो काफी कम समय रह गया !"

"हाँ, सात बजेंगे। और स्टेशन तक पैदल चलना है दो मील, आधे घंटे तो लग ही जाएँगे। जाओ तुम तैयार हो जाओ। खाना तैयार हो गया है। खा लेना।"

ममता ने एक बार श्रीधर को गौर से देखा। क्या अब वह रुकने को एक बार भी न कहेगा ? क्षण भर देखती रह कर निरुत्साहित-सी वह

भीतर चली और कहती गई—"खाना खाने का बिल्कुल जी नहीं है।"

ममता भीतर चली गई। श्रीधर बैठा सोचता ही रहा...तो ममता चली जाएगी। अब जाने कब भेंट हो और वह अपने मन की बात कह भी न पाया। और अब शायद कह भी न पाए। अच्छा तो लिख कर दे दें। वह चटपट उठा और एक पैड उठा लाया और चार लाइनें लिखकर झट कागज मोड़ कर जेब में रख लिया।

तब तक एक अटैची हाथ में लिये ममता आ खड़ी हुई। "मैं तैयार हो गई।"

"तो सचमुच न खाओगी?"

"नहीं, यदि जी होता तो खा लेती!"

श्रीधर कुछ न कह पाया, उठा और आगे बढ़ कर अटैची ले ली। ममता ने कहा—

"मैं लिए चल रही हूँ न!"

श्रीधर ने उत्तर दिया और मुस्कुराने की कोशिश करते हुए ममता की आँखों में घूर कर देखा। ममता का सारा शरीर जैसे रोमांचित हो उठा! उसने इस समय श्रीधर की आँखों में जो तरलता देखी, वह उसे परेशान कर देने के लिए काफी थी। उसके मन में किसी ने कहा—अटैची ले चलने का श्रीधर को पूरा अधिकार है। तुम्हें भी तो श्रीधर के सहारे पर ही रास्ता पार करना है!

आगे-आगे श्रीधर चल रहा था—पीछे-पीछे ममता। चारों ओर घोर सन्नाटा, घना होता हुआ अन्धेरा। थोड़ी देर बाद जब अंधेरा और बढ़ जाएगा, तब शायद अपने आप श्रीधर और ममता की छायाएँ उस अन्धकार में विलीन होकर एक हो जाएँगी।

ममता के मन में जोरों से पुकार-पुकार कर कोई कह रहा था—

दोनों की छायाएँ एक हो जाएँगी—

ममता बिना श्रीधर के सहारे चल नहीं सकेगी—

छायाएँ एक हो जाएँगी।

ममता जैसे अपने आप में असह्य हो उठी। घबड़ाकर पुकार उठी—"श्रीधर !"

श्रीधर घूम पड़ा और ममता की बांह पकड़ कर झकझोरते हुए पूछा—

"क्या हुआ ममता ? क्या हुआ ?"

श्रीधर के हाथ में अपनी बाँह का अनुभव कर के ममता जैसे जाग गई !—"नहीं कुछ नहीं। कोई बात करो। सन्नाटा बुरा लगता है।"

"ओह !" श्रीधर ने ममता की बाँह छोड़ दी और कहा—

"खत लिखना।"

"अच्छा।"

"छुट्टी के बाद भेंट होगी।"

"हाँ।"

ममता केवल 'हाँ' और 'अच्छा' कहती रही। श्रीधर भी कुछ न कुछ कहता रहा।

अन्धकार बढ़ता गया। श्रीधर और ममता की छायाएँ मिटती गईं। प्रतिक्षण ममता अनुभव करती रही—उसे श्रीधर के सहारे की नितान्त आवश्यकता है।

और काफी चलने के बाद स्टेशन की धुँधली लालटेनें रोती-सी दिखाई पड़ीं। अन्धकार के एक बहुत बड़े गोले के बीच और लालटेनों के प्रकाश में केवल अपना अस्तित्व बताती हुई स्टेशन की छोटी-सी इमारत दूर से आते यात्रियों को ढाढ़स बँधाती रही। फिर स्टेशन भी आ गया। थोड़े से यात्री। हल्का-सा कोलाहल। गाड़ी आने में अधिक देरी न थी। प्लेटफार्म पर एक लैम्प के नीचे ममता को खड़ा करके

श्रीधर गया और टिकट ले आया। टिकट ममता को दिया। टिकट के साथ एक कागज भी था।

"यह क्यों, मैं टिकट ले लूँगी।"

"एक ही बात है। देखो गाड़ी आ गई, होशियारी से जाना। मैं भी चलता लेकिन............।"

आगे वह चुप हो गया। ममता ने एक बार उस झीने अन्धकार में भी श्रीधर की आँखों की तरलता देख ली।

गाड़ी आ गई। स्टेशन का सारा शोर एक बार अपने वृहत रूप में उठा और जैसे गाड़ी के डिब्बों में समा गया। एक जनाने डिब्बे में ममता भी बैठ गई। अटैची अपने पास रख ली। खिड़की के बाहर श्रीधर खड़ा था। सन्नाटा अच्छा न लग रहा था, सो ममता ने कहा—

"तुम जाओ न, अब रात हो जायगी।"

"अच्छा।" श्रीधर ने कहा और फिर भी थोड़ी देर रुका रहा फिर अचानक कहा—

"अच्छा जाता हूँ। कभी-कभी पत्र लिखना। तुम आईं इसके लिए धन्यवाद।"

ममता कुछ न कह पाई। और श्रीधर बिना नमस्कार किए ही घूम कर सीधा बाहर चला गया।

ममता उसकी छाया को देखती रहीं। अन्धेरे में भी साफ देखती रही। इस समय उसके हृदय में सचमुच एक तूफान व्याप्त हो उठा था। श्रीधर सोचता जा रहा था, अगर ममता रुक जाती तो अच्छा था। उसे रुक जाना चाहिए था। श्रीधर ने इतना मौन रह कर भी जो सब कुछ कह दिया है न! फिर उसे उसका दिल न दुखा कर रुक जाना ही चाहिए था।

तभी ममता को याद आया कि श्रीधर ने टिकट के साथ एक कागज भी दिया था। उसे झटपट उसने पढ़ा।

"ममता—

मैं कोशिश करके भी न कह पाया। तुम मेरी आवाज रोक देती हो।

भैया से पूछना। क्या वह इसे पसन्द करेंगे कि हम तुम विवाह-सूत्र में बंध जाएँ? तुम्हें जाति का बंधन नहीं मानना है न? पूछ कर सूचित करोगी?

"मैंने यदि अनुचित किया हो तो कुछ न लिखना और क्षमा करना।

—श्रीधर"

पत्र पढ़ कर वह काँपने लगी। श्रीधर...विवाह.........सहारा..........श्रीधर...................वह सोचती गई और एक एक शब्द पत्थर की तरह दिमाग पर चोट करते गये।

तभी गाड़ी ने सीटी दी।

ममता के अन्तर का तूफान भी गरज उठा!

गाड़ी हिली। तूफान की तेजी भी बढ़ी और यंत्र-सी एकाएक ममता उठी और अटैची उठा कर हिलती हुई गाड़ी के नीचे आ खड़ी हुई। जनाने डिब्बे में बैठी दो स्त्रियों ने आँखें फाड़कर ममता का यों उतरना देखा, परन्तु प्लेटफार्म पर सन्नाटा था। कहीं-कहीं परछाइयाँ हिलती डुलती थीं!

गाड़ी स्टेशन से बाहर जा रही थी और ममता प्लेटफार्म के बाहर।

गेट पर एक "बाबू" खड़ा था। ममता ने उसे अपना टिकट दे दिया। हाथ की लालटेन को ऊँची करके बापू ने वहीं का टिकट देखा और आगे बढ़ती चली जाती ममता को देखा। वह देखता रह गया, ममता स्टेशन के बाहर अन्धेरे में खो गई।

परन्तु ममता की आँखें अब तक श्रीधर को छाया को उस अंधेरे

में देख रही थीं———

आगे-आगे श्रीधर और अन्धकार की एक दीवार के पीछे ममता उसी के कदमों पर बढ़ रही थी। उसके अन्तर का तूफान उसके चेहरे पर उतर आया था। परन्तु वह श्रीधर को पुकार न सकी। हाँ, चलती ही गई -उसी की छाया के सहारे, चुपचाप।

पूरा रास्ता इसी तरह पार कर के श्रीधर घर आया और भीतर जाकर बिना पीछे घूमे हुये ही किवाड़ बन्द कर लिए।

ममता बरामदे में खड़ी हो गई। खड़ी ही रही। अब तो पुकारना ही पड़ेगा—

उसने किवाड़ खटखटाया।

श्रीधर की उदास आवाज आई—

"कौन !"

ममता का कण्ठ फिर भी न फूटा। दरवाजा खटखटाती रही। झुंझला कर श्रीधर ने दरवाजा खोला तो जैसे चीख उठा—

"तुम !"

"हाँ, गाड़ी छूट गई। मैं चली आई।"

श्रीधर ने ममता का हाथ पकड़ लिया—"तुम न जातीं तो अच्छा था, मैं कह रहा था न ! आओ।"

ममता के हृदय का तूफान अब शायद शान्त हो चुका था।

आदि और अंत

रोज ही सुबह घर की चाय पीते-पीते अक्सर ऐसे भी दिन आते कि मैं अपने मित्र तिवारी के यहाँ चाय पीने चला जाता। सो, एक दिन इसी तरह तिवारी के यहाँ पहुँचा। "चाय पिओगे न ?" तिवारी ने इस अन्दाज से पूछा जैसे मैं जरूर पिऊँगा और शिष्टाचार के लिये ही वह पूछ रहा हो।

"पी लूँगा," मैंने भी ऐसे कहा मानों उसका मन रखने भर को पीना चाहता हूँ।

हम लोग अपनी बातों में कुछ समय काटने लगे तभी दोनों हाथों में चाय की मेज पकड़े बैजू आया और हम दोनों के बीच रख कर मेरी ओर मुड़ा, फिर कहा, "नमस्ते जी !"

"कहो, क्या हाल है ?" मैंने उत्तर में पूछा।

"अब मैं छोटे अक्षरों वाली किताबें पढ़ लेता हूँ और चिट्ठी भी लिखना सीख गया"—बैजू ने इस ढंग में कहा मानों मैं उसकी पढ़ाई

की प्रगति के विषय में ही पूछ रहा था ।

बैजू तो चला गया, परन्तु तिवारी तनिक मुस्करा कर फिर गम्भीर हो गया ।

यह बैजू, तिवारी का नौकर है । धोती को दोहरी करके लुँगी बाँधे रहता है । तिवारी की फटी-पुरानी बुशशर्ट पहनता है । तिवारी साहब भी उसे अपनी बुशशर्ट तभी भेंट करते हैं जब उसके पाँच बटनों में से चार तो अवश्य ही टूट जाते हैं और बीच के बचे एक बटन को बन्द करके भी बैजू की साँवली बज्र छाती दिखती ही रहती है । हाँ, बैजू तिवारी जी की टूटी चप्पल भी पहना करता है, जिससे उसके चलने में एक अजीब तरह की कराह-सी चटर-चटर की आवाज होती रहती है। उसकी नौकरी के बदले तिवारी केवल यही पुरस्कार देते हैं और एक घंटा रोज उसे हिन्दी पढ़ाया करते हैं । और वह भी रोज सुबह से दस बजे तक और शाम को सात से दस तक उनकी सेवा में उपस्थित रहता है । दिन को वह एक प्रेस में चपरासीगीरी करता है ।

जब बैजू चाय की मेज रख कर ट्रे लेने गया तो मैंने तिवारी की ओर घूर कर देखा ।

एकाएक तिवारी बोल उठा—

"देखो, एक कहानी इस पर लिख दो !"

"कहानी ? किस पर लिख दूँ, बैजू पर ?"

"हाँ, मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि तुमसे यह बात कहूँगा । यों तो तुम दिन रात झूठे-झूठे किस्से लिखा करते हो, पर इसकी एक सच्ची लिखो न ? अच्छा मसाला है ।"

"वह क्या ?"

"मैं जानता हूँ । बता दूँगा तो तुम जरूर लिख मारोगे ।"

मैं चुप ही रहा ।

"तुमसे अभी मैंने जिक्र नहीं किया शायद, जानते हो, यह पढ़ने के लिए इतना लालायित क्यों है ?"

मैं कुछ 'हाँ' या 'न' कहता कि तिवारी कहता गया—"तुम कभी मेरे पीछे के दरवाजे से आये हो न ? उधर जो मुंशी जी रहते हैं उनकी एक सुन्दर-सी सांवली लड़की है, देखा है न ?"

"हाँ, जी स्कूल जाती है, दो चोटी करती है।"

"वही, वही। उसी पर यह कमबख्त मर रहा है। उसी से होड़ लेने को यह लिखाई-पढ़ाई चल रही है। शायद वह इससे बातचीत कर लेती है। यह कहता है कि उसके बराबर पढ़ जाऊँ तो उसे अपनी..."

यह वर्णन सुन कर मेरी हँसी न रुकी और बीच में ही मैं खिलखिला कर हँस पड़ा। और पूछा—

"लेकिन देखने में तो वह छोकरी बहुत शौकीन-मिजाज मालूम होती है। क्या यह उसके मिजाज को संभाल सकेगा ?"

"यही तो बात है। यह नौकरी ही इसीलिए करता है। और पढ़ाई भी इसीलिये है। देखते नहीं, मेरी आधी किताबें यह उसे दे आया है। उसे उपन्यास पढ़ने का बेहद शौक है। यह महाशय एक एक करके सभी उपन्यास उसे दे आये हैं। यही तो उससे बातें करने का बहाना है। एक किताब लेकर जायगा और घंटों प्रेम के गीत गायेगा। वह भी सोचती होगी कि अच्छा है, सस्ते में पुस्तकालय चला आ रहा है।"

"लेकिन यह रोग एकांगी तो नहीं है ? उधर भी कुछ है या नहीं ?"

"कहीं एक हाथ से ताली बजी है ? यह महाशय तो बुरी तरह-फँसे हैं और लगता है कि उपन्यासों की रंगीन कहानियों ने उधर भी कुछ असर किया है। मैं तो रोज देखता हूँ कि स्कूल से लौटने के बाद वह छोकरी उधर गुड़हल की आड़ में जा छिपती है और कोई नयी किताब बगल में दबाकर यह जनाब भी जा पहुँचते हैं। अब तो जब से

इसे पढ़ना आ गया है तब से तो शायद मिल जुल कर पढ़ाई भी होती है।"

"और मुंशी जी विरोध नहीं करते ?"

"उन्हें पता भी क्या होगा ? मुंशी की बीबी तो कई साल पहले मर चुकी है। बूढ़ी माँ है जिसे दिखाई भी कम पड़ता है। मुंशी खुद कभी सात के पहले कचहरी से नहीं लौटते और अगर कभी देख भी लिया तो क्या होगा ? बहुत होगा बैजू पिट जायगा और लड़की का स्कूल जाना बन्द हो जायगा। तब कोई और रास्ता निकल जायगा ?"

"तब तो ये दोनों हैं बड़े विचित्र !"

"इसीलिए तो कह रहा था कि एक सच्ची ही कहानी लिख कर देखो न !"

तभी बैजू चाय की ट्रे लेकर आ गया। उसकी मुद्रा से लगा जैसे वह यह समझ गया हो कि उसकी कहानी की बात हो रही है, सो वह चाय रखकर फौरन चला गया।

उस दिन की चाय में इस कहानी को लेकर अच्छी खासी मिठास आ गयी थी, फिर तो तिवारी ने बहुत-सी बातें बताईं। किस तरह बैजू हर पाँचवीं तारीख को तनख्वाह मिलने पर उसे चाकलेट या कोई मिठाई लाकर भेंट करता है, कभी-कभी शृंगार की कोई वस्तु भी भेंट करता है, अक्सर आकर बताता भी है कि वह लड़की किस तरह बैजू पर जान देने लग गयी है और किस तरह गुड़हल की झाड़ी में सत्य के उपन्यास के नायक नायिका बन कर के लोग प्रेम और विरह के प्रसंगों को सार्थक करते हैं। और पिछले दिनों जब उनका प्रेम अपनी ऊँचाई की चोटी पर पहुँच गया तो उस लड़की ने इस बात पर खुशी प्रकट की कि उसकी दादी अन्धी है, यह उनके लिये कितने सौभाग्य की बात है ! अच्छा है, यदि माँ होती तो कभी वे इस आजादी से न मिल पाते। इतना ही

नहीं उसने यह वचन भी दे दिया है कि यदि मुंशी जी ने अधिक बाधा न उठायी तो वह बैजनाथ को ही अपना जीवन-साथी चुनेगी।

बैजू को भला इससे अधिक क्या चाहिये!

और उस दिन जब बार-बार तिवारी ने यह वायदा करा लिया कि मैं जल्दी ही इन दो पागलों पर यह कहानी लिखूँगा तब घर लौटते हुए मैं उन्हीं के बारे में सोचता हुआ कोई कथानक गढ़ने की कोशिश करता रहा।

फिर महीनों मैं तिवारी की ओर न जा सका। परन्तु उसके बैजू की कहानी दिमाग में चक्कर काट ही रही थी। मुझे भी उनमें दिलचस्पी हो गई थी। मैं भी लिखना ही चाहता था, परन्तु कथानक की कोई योजना न बन पायी और कलम के नीचे आकर अमर हो जाने के लिये वह कहानी मेरे मन में ही तड़पती रही। मैं निश्चय न कर पाया कि इस अद्भुत जोड़ी के प्रेम का अन्त क्या होगा?

एक दिन मैं फिर किस्मत का मारा पहुँच गया। तिवारी स्नानघर में था। मैं कुर्सी खींच कर बैठ गया। अभी चाय के लिए दूध लिये हुए बैजू बाहर से आया। पर आज उसे देखकर मैं सोच में पड़ गया। आज उसने मुस्करा कर "नमस्ते जी!" नहीं कहा। सीधा रसोई घर की ओर बढ़ गया। आज वह एक-बटन वाली बुश शर्ट नहीं पहने था। गहरे नीले रंग की धारीदार नई कमीज पहने था जो अवश्य ही तीन चार दिन से उसके शरीर पर चढ़ी थी, क्योंकि वह इसी तरह मिंज गयी थी। बुशशर्ट की जगह यह कमीज का होना अवश्य ही कोई राज है। और शक इसलिए हुआ कि आज उसके चेहरे पर मस्ती की जगह मुर्दनी छाई थी।

तिवारी आये तो मैंने पहला ही प्रश्न किया—"यह बैजू आज गिरा-सा क्यों है?"

"वही प्रेम का बुखार बिगड़ गया है !"

"बिगड़ गया ?"

"हाँ, मुंशी कहीं लड़की के रिश्ते की बात कर रहे हैं। बैजू ने तो नई कमीज भी बनवाई। लड़की को दो चुटिल्ले भेंट किये ताकि वह भी अपने बाप से कोशिश करे। पर शायद कोई लाभ नहीं हुआ है।"

"क्यों, मुंशी से चर्चा हुई थी ?"

"उससे कौन कहे भला ! और बैजू खुद असलियत समझ गया है। आजकल वह इस बात से परेशान है कि पढ़ लिख कर वह लड़की की बराबरी तो कर लेगा, परन्तु इतना पैसा नहीं है कि उसके बनाव-शृंगार की सारी फरमाइशें पूरी कर सके।"

मैं चुप हो गया। मुझे न जाने क्यों बैजू से सहानुभूति हो गई और उसके बारे में सोच-सोचकर मैं एक दर्द का अनुभव करने लगा।

उस दिन तिवारी ने फिर जिद किया कि मैं बैजू पर एक कहानी लिख डालूँ।

मैं सोचता हूँ कि जरूर लिख डालूँ, पर उसकी इस प्रणय-लीला का अन्त क्या होगा यह समझ नहीं पा रहा, सोच नहीं पा रहा। यह लोग मेरी भी मानसिक अशान्ति के विशेष कारण बन गये हैं।

दो दिन में मैंने पाँच बार बैजू की कहानी लिखने के लिये कलम उठाई। थोड़ा लिखा और हर बार दस-पन्द्रह पंक्तियां लिख कर ही रुक जाना पड़ा।

आगे कलम नहीं चलती। मन में ऐसा कुछ उठता है कि लिखूँ और वह कागज पर नहीं खिंचता। बैजू और मुंशी की लड़की को लेकर कहानी की एक कड़ी बनाता हूँ पर दूसरी नहीं जुड़ती, सोचा आज तिवारी से फिर कुछ चर्चा करूँगा, शायद मामला कुछ आगे बढ़ा हो।

तभी तिवारी अचानक आता दिखाई पड़ा। और कमरे में आकर

मुझे वह एक अज़ीब रहस्यमयी दृष्टि से घूरने लगा। मैं हक्का-बक्का, कहानी सुन कर एक अजीब से डर से काँपता-सा, उसकी आँखों से आँखें मिलाने की कोशिश करता रहा।

यह स्थिति अधिक न रहे, इसलिए मैंने झटपट कहा—"मैं वह कहानी ही लिख रहा हूँ।"

वह अट्टहास करके हँस पड़ा।

"क्या पूरी हो गई ?"

"नहीं अन्त बाकी है।"

"अन्त हो गया !" कह कर वह मेरी कुर्सी पर झुका और फिर एक बार हँस पड़ा।

मुझे आशंका हुई। प्रणय-कहानियों का अन्त सदा भयंकर होते ही सुना है। मेरा कलेज़ा धड़कने लगा।

उसने कहा—

"डरो मत, कोई मरा नहीं। मैं यही बताने चला आया कि कहानी का अन्त आज हुआ है।"

"सो क्या ?"

"आज सबेरे सबेरे आकर बैजू ने कहा—'तिवारी बाबू, मैंने फैसला कर लिया है। मैं जान गया कि वह मेरी नहीं हो सकती। मैं उसके लायक नहीं। पर मुझे उससे प्रेम है इसलिये मैं किसी तरह भी उसे कहीं दूर नहीं जाने दूँगा।'

मैंने पूछा—"क्या किया जाय ?"

तब उसने बहुत गम्भीरता और संकोच के साथ कहा—"तो, तो, मेरी इच्छा है कि आप उससे व्याह कर लें। इसमें मुंशी को भी आपत्ति न होगी। और वह आपके पास रहेगी और इस तरह सदा मेरे ही पास रहेगी। मैं आँखों के सामने देख तो सकूँगा ! वह खुशी से रहेगी।"

यह बता कर तिवारी फिर ठहाका मार कर हँसा। पर मुझे लगा कि प्रणय-लीला का सचमुच अन्त हो गया......

अन्त अच्छा हुआ हो या बुरा, पर हुआ यही। उपन्यास पढ़-पढ़ कर एक दुःखान्त कथानक का वह खुद शिकार हो गया। प्रेमिका दूर न जाये, चाहे अपना हक उस पर न रहे।

कहानी का आदि और अन्त मिल गया है। अब कहानी जरूर पूरी हो जायगी और कलम के नीचे आकर बैजू-बैजनाथ की प्रणय-लीला युगो के लिये अमर हो जायगी।

पति पत्नी

उनके बीच में भला कौन पड़ता ? दोनों ही पति-पत्नी ! और शायद यही कारण था कि उनके बीच कोई न आया और उनकी दूरी बढ़ती गई और बढ़ता गया उनके हृदय का सन्ताप। अपने जीवन से थका, ऊबा उमेश जब सारी गाथा पर सोचने बैठा तो लगा कि सभी घटनाएँ बिल्कुल ताजी, कल-परसों की हैं।

अचानक उसे याद आया वह दिन। ताजे गुलाब की तरह सुगंधित वह दिन, जब शादी के पश्चात् वह अपनी पत्नी कृष्णा के साथ वापस आ रहा था। और बाराती तो तीसरे दर्जे के डब्बे में ही बैठ गये थे, लेकिन विशेष तौर से उमेश व कृष्णा को एक दूसरे दर्जे के डब्बे में बैठाया गया। उमेश एक पढ़ा-लिखा युवक—इस अचानक मिले सम्मान को खूब समझता था। आज से वह एक स्त्री का सर्वस्व— स्वामी— था। स्त्री का विचार आते ही उसने बर्थ पर कोने में बंडल की तरह सिमट कर बैठी पत्नी को देखा। और उसी क्षण देखा सामने की बर्थ पर

बैठे एक बंगाली दम्पति को, जो किसी ऊँचे परिवार के लगते थे। किस तरह हँस हँस कर बातें कर रहे थे! शायद उमेश को देखकर उन्हें भी अपनी शादी के दिन याद आ रहे थे—और उस स्मृति की पुलक से हँसे बिना रह भी कैसे सकते थे! उन्हें देखते ही उमेश के हृदय में एक हूक उठी—काश! उसकी पत्नी भी उसी तरह होती कि आज अपने जीवन के इस महत्वपूर्ण दिन को भी वे पूरे उत्साह से बिता पाते।

उसका जी चाहा कि बढ़कर वह कृष्णा का घूँघट उलट दे और उससे बातें करने लगे, पर यदि वह न बोले या बात न करे तब? उसे ये बंगाली दम्पति कितना मूर्ख समझेंगे! यही सोचकर वह मन मसोस कर खिड़की के बाहर भागते हुए खेतों, दौड़ते हुए पेड़ों और कच्चे-कच्चे मकानों के गाँवों को देखने लगा।

वह इस प्रकार कब तक देखता रहा उसे पता नहीं। हाँ, उसकी चेतना तब लौटी जब गाड़ी की चाल धीमी होते-होते बिल्कुल रुकने को हो गई थी। उसने डब्बे के भीतर देखा। बंगाली दम्पति उठ खड़े हुए थे। जाने उन्हें यों देखकर उसे खुशी क्यों हुई। उसने पूछ ही तो लिया—"क्या आप लोग यहीं उतरेंगे?"

"हाँ, आपको बहुत 'डिस्टर्ब' किया," बंगाली महोदय ने कहा। गाड़ी खड़ी हो गई थी। अपनी पत्नी के साथ वह बाहर चले। उनका उत्तर सुनकर जाने क्यों उमेश लज्जा से लाल हो गया। उत्तर में "धन्यवाद" भी न कह सका।

गाड़ी यहाँ बहुत कम रुकी। फिर जब चली तो डब्बे के एकान्त द्वारा प्रोत्साहन पा उमेश ने आकर कृष्णा से कहा: "सुना तुमने, वह बंगाली क्या कह रहा था?"

कृष्णा ने उत्तर न दिया। वह ज्यों की त्यों बैठी रही। उमेश को

लगा जैसे उसकी निराशा प्रत्यक्ष हो उठी। वह जानता था कि वह कभी भी उत्तर न देगी। अगर कोई और यहाँ होता तो उसका कितना मजाक बनता! उसने बहुत करुण शब्दों में कहा :

"कृष्णा, यहाँ और कोई नहीं। मुझसे तुम्हारा शरमाना उचित नहीं। यदि तुमने केवल अपनी शर्म या लाज को ही देखा और हमारी भावनाओं को न देखा तो सच मानों मेरा हृदय टूट जायगा।"

उमेश की बातें सुनते ही कृष्णा में जैसे नई जान आ गई हो। उसने कुछ ऐसा किया कि उसका सारा शरीर हिल गया। उमेश ने समझा कि उसकी बातों का ही असर है। तीर निशाने पर लगा। उसने झपट कर उसका घूँघट उलट दिया। कृष्णा का खिला हुआ चेहरा दमक उठा। उमेश ने देखा कि जब उसने पहली बार सगाई के पूर्व देखा था तब से आज उसका सौंदर्य अधिक निखर आया है। शायद सुहाग का सिंदूर ही नारी के अनुपम सौंदर्य का एकमात्र प्रसाधन है।

उमेश के अभिनय का यह असर हुआ कि जाने कितनी कोशिश करके कृष्णा ने लज्जा का आवरण उतार फेंका और उसने उमेश को खुश रखने में कुछ भी न उठा रखा! उमेश ने भी मन में सोचा कि कृष्णा के रूप में उसे जो महिला मिली है, वह उसकी कल्पना से अधिक ही अच्छी है। उसे उसमें कोई कमी न दिखी। न रूप में, न गुण में और न व्यवहार में।

उसके बाद जब गाड़ी रुकी तो लोगों ने आकर कृष्णा को उतारा और वह फिर महिलाओं के गिरोह में खो गई। उमेश लगातार उसी के बारे में सोचता रहा। जहाँ वह अपने सौभाग्य पर फूला न समाता था, वहीं वह एक बात और सोच रहा था। वह सोच रहा था, कृष्णा ऐसी लगती थी जैसी बंधन से छूटी कबूतरी। क्या उल्लास था कृष्णा

के मन में कितनी तेजी थी उसके अंगों में ! परन्तु क्या यह सम्भव है कि प्रथम-मिलन में ही कोई नारी इतना अधिक खुल जाए ? कृष्णा खुली ही नहीं उसने तो जैसे उमेश के सम्मुख अपने को बिखेर दिया हो। तो क्या आज की कालेज की सभी लड़कियों की तरह ही कृष्णा भी है ? क्या उमेश ही उसके जीवन का प्रथम पुरुष नहीं ?

यह विचार आते ही उमेश का मस्तिष्क चक्कर काटने लगा। वह इन प्रश्नों को अपने मन में टिकने नही देना चाहता, परन्तु वह उन्हें भूल भी नहीं पाता। तो क्या किसी ने उसे बताया भी नहीं कि प्रथम बार पति से किस प्रकार मिलना या बातें करना चाहिए ? अवश्य ही कृष्णा बहुत भोली है। संसार के नियमों से अपरिचित है। या सचमुच वह आधुनिक लड़कियों की तरह ही है।

उमेश मन में कुछ भी निश्चय न कर पाया कि वह कृष्णा को क्या समझे ?

तीन चार दिन बाद शादी की खुशी में एक दावत हुई थी। कृष्णा उसमें नहीं जा रही थी, परन्तु उमेश ने जब बहुत अधिक जिद किया तो वह भी साथ चली गई। दावत समाप्त होने पर उमेश ने पत्नी का परिचय अपने एक कवि व दार्शनिक मित्र से कराया। कृष्णा को जाने क्यों उमेश का यह मित्र देखते ही अच्छा न लगा। उस मित्र ने भी उसी क्षण उमेश को थोड़ी दूर ले जाकर जो बात कही वह सब कृष्णा ने सुन लिया और सचमुच कृष्णा की देह में उसकी बातो ने आग लगा दी थी।

उसने कहा : "उमेश ऐसी सुन्दर स्त्री पाने के लिये बधाई ! लेकिन सतर्क रहना पड़ेगा। अच्छे फूलों के चारों ओर मंडराने वाले भौरों की कमी नहीं होती। इतनी सुन्दर स्त्री एक की होकर नहीं रह सकती।"

उमेश ने कुछ उत्तर न दिया। उसे जाने क्यों मित्र की बातों से

अपने हृदय की शंका को बल मिला।

परन्तु उसी क्षण उमेश से कृष्णा ने कहा : "आपके यह मित्र मुझे अच्छे नहीं लगते। ऐसे व्यक्ति से संबन्ध रखना कदापि उचित नहीं। मैंने उनकी बातें अक्षरशः सुनी हैं।"

"उसकी बात मन में मत रखना। वह दार्शनिक है। हर बात को सोचने-समझने का उसका अपना ढंग है।" उमेश ने केवल इतना कह कर कृष्णा को समझाने की कोशिश की, परन्तु सचाई यह थी कि वह अपने मित्र की बातें मन से निकाल न सका।

उस दिन रात को जब उमेश कमरे में आया तो कृष्णा को नींद आ गई थी। पलंग पर तकिये की गोद में वह हँसता-सा चेहरा आराम कर रहा था। बालों की एक लट शायद गोरे गालों को देख अपने को रोक न सकी और माथे से उतर कर गाल पर चिपक-सी गई थी। कमरे में पाँव रखते ही उमेश की नजर कृष्णा के चमकते चेहरे पर पड़ी। वह जैसे ठगा-सा खड़ा उसे ही देखता रहा—जैसे उसके सम्मुख पलंग पर चांद पड़ा हो। चांद......सुन्दर चांद...! चांद की याद आते ही उसे एक बात और याद आई : "चांद में भी दाग होता है—कलंक का दाग!"

यह विचार आते ही उसका जी मथने लगा। चांद का कलंक, कृष्णा का कलंक!

तभी कृष्णा ने करवट ली। लगा कि उमेश के विचारों में बवंडर उठ आया है। उसे मूर्छा न आ जाय कहीं! उसने बढ़कर कृष्णा के गाल पर चिपकी लट को अपनी दो उँगलियों से पकड़ कर हटा दिया। आहट पाकर कृष्णा की नींद खुल गई। पर नींद की मारी आँखें पूरी न खुल पाईं। अलसाए अध-धुले नयनों से कृष्णा ने देखा कि उमेश उसे घूर रहा है। कृष्णा ने अपना एक हाथ उठा कर उमेश के गले में

डाल दिया । उमेश का सारा शरीर रोमांचित हो उठा !

एक क्षण के लिए उमेश की सारी शंकाएँ धुल गईं । क्षण भर पश्चात् कृष्णा फिर सो गई । और उमेश सोचने लगा । कृष्णा के यों गले में हाथ डाल देना क्या स्वाभाविक है ? क्या कोई भी स्त्री पुरुष के गले में यों अपने आप हाथ डाल सकती है ?

उमेश फिर दलदल में फँस गया । उसका आंतरिक द्वंद्व बढ़ता ही गया । जितना ही वह अपने मन के संदेह, भ्रम को दूर करता उतना ही उसमें उलझता जाता ।

उमेश की इन सभी गतिविधियों को कृष्णा अनुभव कर रही थी ! नारी की अन्तर्दृष्टि से उमेश का भाव छिपा न रह पाया । उसने देखा कि उमेश के शायद कोई करार है । वह उसकी ओर से लगातार उदासीन होता जा रहा है । क्या उससे कोई त्रुटि हो गई है ? उमेश उससे जब भी बातें करता तो कृष्णा को लगता जैसे उसकी आवाज उसके हृदय की आवाज नहीं ! अब कृष्णा उमेश के प्रति अपने व्यवहारों में अधिक सतर्क रहती और उसकी सतर्कता कभी-कभी अस्वाभाविकता की सीमा पर भी उतर आती । और यह अस्वाभाविकता उमेश के मन की शंका को और अधिक बढ़ाती जाती । कृष्णा उमेश को संतुष्ट करने में कुछ भी नहीं उठा रखती । परन्तु वह जितना ही उसके निकट जाती, वह उससे दूर होता जाता ।

कृष्णा इस परिवर्तन का कारण न समझ पाई । एक दिन उसने सोचा कि शायद बहुत दिन एक साथ बीते, उमेश ऊब गया हो । पुरुष नवीनता का प्रेमी है । वह थोड़े दिनों को कहीं चली जाए तो शायद एकान्त में उमेश कुछ अधिक सोच पावे और उसके मन की खाई भर सके । सो उसने अपने पिता को पत्र लिखा और तीन चार दिन बाद ही उसके भाई आए आये और उसे लिवा ले गये ।

एकान्त में उमेश की वेदनाएँ अधिक सजीव हो उठीं। जो व्यक्ति किसी के सहयोग से अपने को ठीक न कर सके, वह भला एकान्त में क्या सोचेगा ! विश्वविद्यालय में पढ़ते समय उमेश ने अनुभव किया था कि पढ़ी लिखी लड़कियों का नैतिक स्तर ऐसा ही हो गया है कि वे कभी भी किसी से भी प्रेम कर लेने को पाप नहीं समझतीं। केवल इसी भावना के अन्तर्गत उसने केवल स्कूल तक पढ़ी हुई कृष्णा से विवाह किया था। परन्तु अब तो उमेश को जैसे नारी पर से सारी श्रद्धा ही मिटती-सी ज्ञात हुई। संसार में कोई भी स्त्री पवित्र नहीं, न किसी का विश्वास हो सकता है। जब उसके मन में शंका है और उसका कोई समाधान नहीं तो कृष्णा के अतीत को वह कैसे स्वच्छ माने ?

उमेश बराबर कृष्णा के बारे में ही सोचता रहा। उसने सोचा, इस बार कृष्णा से खुलकर बातें कर लेनी चाहिए।

थोड़े दिनों बाद कृष्णा मायके से वापस आई। दोपहर को जब वह नीचे घर का काम कर रही थी, तभी उमेश उसके कमरे में घुसा। कृष्णा से बातें करने के पूर्व उसे कुछ प्रमाण भी खोज ही लेने चाहिए। चुपचाप उसने दरवाजा बन्द किया और ताख पर रखी चाभी का गुच्छा उठा लिया। एक-एक करके कृष्णा के चारों संदूक, जो वह मायके से लाई थी, खोले और एक एक चीज को उलट कर देखा, शायद कहीं कोई पत्र मिल जाये या कोई चित्र ही। पर कहीं कुछ भी न मिला। बहुत खोजते-खोजते उसे चिट्ठियों का एक बंडल मिला। एक रंगीन रूमाल में वह बंधा था। उमेश को लगा कि वह जिस रहस्य को इतने समय से जानने को बेचैन था वही उसके हाथ में है। उसने सोचा कि अवश्य ही ये पत्र कृष्णा के पूर्व प्रेमियों के होंगे और इनसे वह कृष्णा को खूब समझ सकेगा। उसने बड़े उत्साह से रूमाल खोली। परन्तु एक भी पत्र उसे अपने काम का न मिला। तीन-चार पत्र कृष्णा की

सहेलियों के बाकी उसकी माँ के थे। उसे बड़ी निराशा और बेचैनी हुई। खीझ कर उसने सभी पत्र यों ही डाल कर बक्स बंद कर दिया। तभी सीढ़ी पर आहट हुई। झटपट उसने द्वार खोल दिया और किताब उठाकर खिड़की पर यों खड़ा हो गया जैसे वह वहीं बहुत देर से खड़ा हो। परन्तु उसके चेहरे ने कृष्णा को बहुत कुछ बता दिया।

कृष्णा आई। उसे कुछ संदेह हुआ। परन्तु उसने कोई बात नहीं कही। चुपचाप उमेश के पास आयी और पूछा: "इतना परेशान क्यों हो?"

"कुछ नहीं", उमेश ने कहा, "आजकल मेरी तबियत ठीक नहीं रहती। मैं बाहर वाले कमरे में सोया करूँगा। डाक्टर ने यही राय दी है। मेरा बिस्तर आज वहीं लगवाना।"

"तो क्या मैं यहां अकेली.........।"

बात काट कर उमेश ने कहा: "क्यों क्या कोई खा जायगा?"

कृष्णा इसके बाद भला क्या कहती? तिलमिला कर रह गई वह और तड़प उठी उसके भीतर की नारी। इतना बड़ा अपमान, तिरस्कार, उमेश को शायद नहीं मालूम कि अपमानित नारी को बिलकुल वही दशा होती है जो चोट खाई हुई नागिन की।

मन ही मन फुफकार कर रह गई कृष्णा। उसने फौरन नौकर को बुलाया और कहा कि उमेश का बिस्तर बाहर वाले कमरे में ले जाए। और उसने उमेश से कहा: "जैसी तुम्हारी खुशी।"

उमेश के हृदय पर इस घटना का भी गलत असर पड़ा। उसने सोचा—कृष्णा को उसकी चिन्ता नहीं। नहीं तो वह कभी भी एक बार के कहने पर बिस्तर बाहर न भेज देती। संभव है, उसे उमेश के दूसरे कमरे में जाने से खुशी ही हो।

उस दिन के बाद से कृष्णा ने देखा कि उमेश उससे सचमुच

बहुत दूर होता जा रहा है। अक्सर वह रात को काफी देर में लौटता और अपने कमरे में सो रहता। कृष्णा रह रह कर सोचती कि वह क्यों न एक दिन बैठ कर इन सभी बातों का अन्त कर दे। उमेश से साफ साफ बातें करे। परन्तु उस दिन बात शुरू की और उमेश उलझ गया।

"आज इतनी देर कहाँ रहे ?" कृष्णा ने पूछा।

"यों ही।" उमेश ने कहा

"फिर भी ?"

"तो क्या अपने आने जाने का सारा कार्यक्रम तुम्हें बताया करूँ।"

"कार्यक्रम कहाँ पूछती हूँ ?"

"तो यह बताना कठिन है कि मैं दिन भर कहाँ जाता हूँ, क्या करता हूँ, या कहाँ से आ रहा हूँ, और कल क्या करूँगा, और तुम्हें इससे क्या मतलब ! तुम्हारी घर की दुनिया है—उसको देखो।" उमेश की आँखें क्रोध से लाल थीं।

कृष्णा कांप उठी। इस प्रकार की आँखें देखने का पहला अवसर था। उसने सोचा कि यह सब व्यर्थ ही पूछा। पर पूछ कर कौन सी हानि की ? जब से वह इस बार मायके से आई है तबसे उमेश उससे अलग अलग रहता है। परन्तु इसका कारण ? कृष्णा में ऐसी कौन-सी कमी आ गई है कि वह इतनी उपेक्षित बन गई है ? सोचकर उसे रुलाई आ गई। आखिर एक नारी आँसुओं के समुद्र को कब तक रोक सकती ? वह फूट कर रो पड़ी और उठकर अपने कमरे में पड़ रही। फिर कब तक रोती रही और रोते रोते कब रात बीत गई उसे ज्ञात नहीं।

एक दिन घूमकर लौटने पर अपने कमरे में जा उमेश कोई किताब पढ़ने लगा। आजकल वह 'मनोविज्ञान' पर अधिक पुस्तकें खरीद लाया है और उसे ही पढ़ता रहता है। वह यह जानना चाहता है कि आखिर

कृष्णा को लेकर उसका मानसिक द्वंद्व क्यो बढ़ता जा रहा है—और कृष्णा भी थक गई थी, सो जाकर अपने कमरे में लेट रही। फौरन ही उसे नीद आ गई।

लगभग एक घंटे के पश्चात् उमेश जाने क्यो उठकर कृष्णा के कमरे में चला गया। जाकर देखा कृष्णा गहरी नींद में खोई थी। उमेश पास गया। जाने क्यो उसका जी चाहा कि वह कृष्णा को जगाकर प्रेम की दो बातें करे। परन्तु ज्यो ही वह पास गया तो गौर से देखा कि उसके चेहरे पर विषाद की रेखायें स्पष्ट उभरी थीं और वह कुछ बुदबुदा रही थी। अभी अभी उमेश ने पढ़ा था कि नीद में वही बात मुँह से निकलती है जो अन्तरतम की बात होती है। झुक कर उसने सुना—कृष्णा के मुँह से अस्पष्ट आवाज आ रही थी—पति-प्रेमी -

वह चौक उठा। पति के साथ यह 'प्रेमी' क्यो ? तो अवश्य ही कृष्णा का कोई प्रेमी है। उमेश का सारा प्रेम खो गया। उस पर इसका इतना गहरा मानसिक प्रभाव पड़ा कि लगा कि वह बीमार हो जाएगा। परन्तु कुछ भी हो, चाहे जैसे भी हो, वह इस रहस्य का पता अवश्य ही लगाएगा। उसकी निश्चित धारणा थी कि अवश्य ही कृष्णा का कोई प्रेमी भी है।

दूसरे दिन अचानक कृष्णा के भाई आए। कृष्णा की माँ बीमार थी, सो कृष्णा भाई के साथ चली गई।

उमेश ने सोचा, चलो यह अच्छा हुआ। वह सास की बीमारी का बहाना बनाकर शीघ्र ही जाएगा और कृष्णा के पूर्व जीवन के विषय में पता लगाएगा।

एक सप्ताह बाद वह भी कृष्णा के यहाँ जा पहुँचा। एक दिन शाम को घूमने के बहाने वह तांगे पर बाहर निकला। जी कुछ ऊब रहा था, तो तांगे वाले से ही बातें शुरू की।

"दिन भर में कितना कमा लेते हो ?"

"क्या कमाता हूँ बाबू। कमाने के दिन लद गए। अब तो रिक्शेवालों ने रोटी ही छीन ली। समझिए कि आप लोगों की सवारी का ही सहारा है। हाँ, लड़कियों को स्कूल ले जाता हूँ। बस यही बंधी आमदनी समझिए।"

"तो तुम कितने दिनों से लड़कियों को ले जाते हो ?"

"तीस साल से बाबू।"

"तो जहाँ से मैं आया हूँ वहाँ की लड़कियां भी तुम्हारे ही तांगे पर जाती हैं ?"

"उनकी एक लड़की तो जाती थी बाबू, पर साल भर हुए उसका व्याह हो गया। उन्हें भी दो साल ले गया हूँ।"

उमेश के सामने आशा साकार हो उठी! सब कुछ तांगे वाले से पता चल जाएगा।

"तो मैं जो पूछूँ सच सच बताओ तो मुँह माँगा इनाम दूँगा।"

इनाम की बात से तांगे वाले की आँखें चमक उठीं।

"हाँ बाबू, क्यों न बताऊँगा।"

"तो सुनो, मैंने सुना है कि इनकी लड़की का चालचलन कुछ वैसा था। अब तो व्याह हो गया, लेकिन यों ही पूछ रहा हूँ। बताओ अगर तुम कुछ जानते हो।"

"न बाबू, वे बड़ी भली थीं। मैंने कभी कोई बेजा नजर नहीं देखी-सुनी।"

"यह कैसे हो सकता है ?"

"मेरे सामने तो कभी ऐसी बात नहीं आई सरकार !"

उमेश ने देखा कि अधिक लाभ नहीं तांगे वाले से सो कहा: "अच्छा जाने दो।"

उसे निराशा ही हुई ।

घर वापस आकर उसकी व्यथा बढ़ ही गई । यह जो उसकी हार हुई इसका उसे काफी दुःख था । क्या सचमुच कृष्णा के प्रति उसका संदेह निर्मूल है !

तभी उसके कमरे में नौकरानी आई । उमेश ने सोचा जरा नौकरानी से पूछें । इसे अवश्य ही ज्ञात होगा । उसने बुलाकर नौकरानी से पूछा । "तुम्हारी बिटिया रानी की सभी करतूतों का पता लग गया है । मुझे सब बता दो तो साड़ी इनाम दूँगा ।"

"कैसी करतूत ?"

"उसका चाल-चलन !"

पहले तो नौकरानी ने समझा कि दूल्हा बाबू मजाक करते हैं फिर उमेश की मुद्रा देख कर उसकी भवें तन गईं । वह कमरे के बाहर जाकर जोर से बोली : "यह मर्द सभी बड़े शक्की होते हैं । सोने से ज्यादा खरी है हमारी बिटिया......उस पर संदेह ! अरे बहू जी, बहू जी.........।" पुकारती वह शोर करती नीचे चली गई ।

उमेश को बड़ी झेंप लगी । उसने बुरा किया । अवश्य ही नौकरानी घर भर में बात फैला देगी । झेंप कर उसने फौरन कृष्णा को बुलाया और अपने पास खींच कर कहा : "रानी, आज ही घर वापस चलना चाहता हूँ । चलो । तैयारी कर लो ।"

कृष्णा को इस अचानक उमड़े प्रेम पर आश्चर्य हुआ । परन्तु उमेश का नशा उखड़ चुका था । अपने करनी पर उसे जो पश्चाताप था उसे कृष्णा खूब समझती थी ।

जीवन का सूरज

"माता जी !"

नीना चौंक पड़ी। सिर उठाकर देखा उसकी पतोहू, विनय की बहू, खड़ी थी। कुछ सहमी हुई, आंचल का छोर उँगली में लपेटती हुई। नीना का मातृत्व अपनी इसी प्यारी-सी बहू को देखकर सदा ही हिलोरें लेने लगता है। आज उसका सुबह से ही जी कुछ अजीब-सा, भारी हो गया है। कुछ अज्ञात-सी बेचैनी उसके सारे शरीर को शून्य बनाए हुए है।

जीवन का सैंतालीसवां वर्ष आज वह पार कर रही है। आज तक उसने कभी भी इस विषय पर नहीं सोचा था, परन्तु आज की सुबह से ही जाने क्यों उसे लगातार यही भास हो रहा है कि शायद जीवन की साँझ आ गई है। जीवन का सूरज......! जीवन का सूरज...!

इस विचार के आगे ही वह एक विराम का अनुभव करती है। सांझ में सूरज डूबता है। पर उसका सूरज! काश, संसार जान पाता कि उसका सूरज जीवन के प्रात से ही किसी ऐसी काली बदली से ढँका रहा है कि शायद अस्त भी हो जाय लेकिन यह बदली न छँट पाएगी। परन्तु नीना थी कि उसी सूरज की कल्पना के सहारे ही इतनी गाड़ी खींच ले गई। पर शायद अब न खींच पायेगी।

अपनी बहू को खड़ी देखकर फिर उसकी विचारधारा रुक गई और वह पूछ बैठी, "क्या है, बहू!"

"माता जी, इलाहाबाद से भैया की चिट्ठी आई है। भाभी भी बीमार हैं। कहिए तो पन्द्रह दिन रह आऊँ?"

"पर यह घर कौन देखेगा? मेरा भी तो जी नहीं चलता!" एक सास में ही नीना ने कह दिया। परन्तु दूसरे ही क्षण बहू का उदास चेहरा और कोमल भावनाओं का ख्याल आते ही उसने सुधार किया, "अच्छा तो विनय से मैं पूछ लूँ तो बताऊँ।"

बहू को बहुत थोड़ी-सी आशा की झलक दिखी। बह विनय से सिफारिश करने के हेतु वापस लौट गई।

और नीना फिर अपनी साँझ और अपने सूरज में खोने-सी लगी।

तभी उसका चार साल का पौत्र कूदता हुआ आया और आज का अखबार दादी की गोद में रख कर बोला—"दादी माँ, पेपर!"

आज नीना ने अपने इस हृदय के टुकड़े, चांद-जैसे पोते को गोद में न उठाया और निर्जीव-सा अखबार उठा कर देखने लगी, परन्तु आज कुछ बात है जरूर कि अखबार छूते ही जाने क्यों उसकी उँगलियाँ काँप-सी गईं!

उसने अखबार का पहला पृष्ठ पढ़ लिया—यों ही रोज की तरह जैसे कोई खास बात नहीं। फिर दूसरा, फिर तीसरा, परन्तु तीसरा

पृष्ठ खोलते ही जैसे उसके शरीर में कहीं बिच्छू ने डंक मार दिया ! उसकी नजर सीधे एक समाचार पर पड़ी। दिल्ली-समाचार के कालम में एक समाचार था—

'प्रसिद्ध समाजसेवी श्री सन्तोषकुमार चोपड़ा का कल रात हृदय की गति बन्द हो जाने से देहावसान उन्हीं के निवासस्थान पर हो गया। उनके सम्मान में शहर के सभी बालिका-विद्यालय बन्द रहे। श्री चोपड़ा की मृत्यु से शहर की दर्जनों संस्थाएँ अनाथ हो गईं।'

समाचार पढ़ते ही नीना की आँखें यों चकरा गईं। उसे लगा कि जैसे सारे अखबार में एक वही खबर है। अखबार उसके हाथ से गिर पड़ा और आँखों से बहे आँसू को ओठों से रोक वह आँखें मींच आराम कुर्सी पर झूल गई।

संतोष की मृत्यु—सचमुच सूरज डूब गया ?

आँखें मींचे नीना व्यथा के भार से दबी अपने जीवन के प्रातःकाल को अपने सम्मुख नाचता हुआ देखती रही।

उसका शैशव काल ! जीवन का प्रातःकाल ! !

नीना ने जीवन के अट्ठारह साल पूरे किये थे, उन दिनों की स्मृति कितनी सुनहली है ! उसके पिता एक कुशल व्यापारी थे। उन्होंने अपने व्यवसाय से काफी सम्पत्ति उपार्जित की थी। अपनी इस इकलौती बेटी, नीना, को वह बहुत प्यार करते थे, इसी से उन्होंने उसे उच्च शिक्षा दिलाने में कोई कसर न रख छोड़ी थी।

आज नीना अपने उस अतीत की ओर दृष्टिपात कर रही है तो...।

उसके पिता को सवारियों का बेहद शौक था। अपनी सफेद फिटन को वह बहुत प्यार करते थे। और उनकी वह फिटन थी भी

शहर में बेजोड़। शाम को वह तैयार की जाती। उसमें जुते दो सफेद घोड़े जिस समय अपनी संगीतमय गति से सड़क के काले सफेद वक्ष-स्थल पर चलते तो उस समय आने जाने वाले विवश होकर रुक जाते और उन्हें निहारने लगते। नीना को सचमुच उस समय अपने वैभव पर गर्व का अनुभव होता था।

कहते हैं, अदृष्ट जब निर्मम अट्टहास कर उठता है तो उससे विनाश की ही सृष्टि होती है। जब नीना सत्रह साल की थी तभी एक शाम उसके पिता की गाड़ी किसी मोटर से बुरी तरह लड़ गई। दौड़ी-दौड़ी वह अस्पताल गई परन्तु वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसके पिता संसार के मायाजाल से छुटकारा पा चुके थे।

उनकी इस असामयिक मौत ने नीना की निःसहाय माँ के हृदय पर जो प्रहार किया वह काफी घातक सिद्ध हुआ।

कहते हैं, धन की माया भी व्यक्ति के साथ रहती है। नीना के पिता के मरते ही उनका व्यापार नष्ट हो गया, देना-पावना में उनकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई और नीना तथा उसकी माँ के लिये बहुत थोड़ा बच रहा जिस पर उन्हें अपना जीवन-निर्वाह करने को वाध्य होना पड़ा। नीना के पिता ने कितनों की ही आर्थिक सहायता की थी, परन्तु आज दुर्दिन में नीना और उसकी माँ को कोई पूछने वाला भी नहीं था।

नीना पर पिता की मृत्यु का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। माँ के तन में तो जैसे घुन लग गया। और अधिक दिनों तक यह व्यथा सहने के लिए वह जीवित भी न रही। पहले तो जब कभी वह पिता की सुध करके रो उठती तो माँ अपने स्नेह सिक्त आँचल से उसका दुःख समेट लेती, किन्तु जब स्वयं माँ की वेदना ही के सागर में तूफान आ जाता तो उसे कौन संजो सकता था?

माँ के घुन लगे तन को यह सब कहाँ तक सह्य होगा? आखिर

वह बीमार हो गई। नीना ने माँ को बीमार देखा तो जैसे उसे विश्वास ही न हो रहा था। क्या, माँ भी उसे छोड़ कर चली जायगी? लेकिन नीना के सोचने से भला क्या हो सकता था? कुछ दिन यातना भोग कर माँ भी जाती रही तो नीना के लिए संसार जैसे शून्य हो गया। उसके लिए तो घर में अकेले रहना भी भार हो गया—जीवन-यापन के लिये कुछ भी शेष न था। किसी के सामने हाथ फैलाना नीना के स्वभाव के विरुद्ध था।

अन्त में उसने अपनी दूर की रिश्ते की एक मौसी को साथ रहने के लिये बुला लिया। वे विधवा थीं—निर्धन-असहाय! नीना की विपत्ति को सुनकर उन्होंने फौरन आकर बेटी का भार अपने ऊपर ले लिया। नीना ने सोचा, कोई आखिर आँसू पोंछने वाला तो मिला!

फिर तीन लम्बे नीरस वर्ष बीत गये। धन का अभाव होते हुए भी नीना मुक्तहस्त होकर व्यय करती थी। कभी-कभी मौसी उसे समझाती—कहतीं—"अगर तेरे बाप होते तो तू चाहे कितना खर्च करती, लेकिन अब तो पाई का भी सहारा किसी ओर से नहीं है, फिर तुम खर्च पर तनिक भी नियंत्रण नहीं रखतीं। अभी सारा जीवन पड़ा है और कम से कम भोजन-वस्त्र तो चाहिये ही, फिर अभी तुम्हारी शादी भी तो करनी है।"

नीना को बुढ़िया मौसी की बातों पर हँसी आ जाती। वह कहती—"मौसी खर्च के लिए मुझे तुम कुछ भी मत कहो। जब तक इस तरह चलता है, चलाओ नहीं तो मैं कहीं नौकरी कर लूँगी। अब तो स्त्रियाँ भी नौकरी करके रुपये कमा सकती हैं।"

मौसी बेचारी क्या कहती? जीवन में स्वावलम्ब क्या होता है, इसका इन्हें ज्ञान भी नहीं था। सदैव ही वह पति पर निर्भर रहीं। सो नीना की बात उनकी समझ में न आती और वे चुप ही रहतीं। नौकरी

करने वाली स्त्रियों को वह अजीब शंका की दृष्टि से देखती हैं—सो क्या नीना भी नौकरी करेगी ?

और वह दिन आ भी गया। नीना को नौकरी की दरख्वास्त देनी पड़ी, परन्तु यह कार्य इतना आसान न था जितना वह पहले समझती थी। अन्त में शहर के एक बहुत बड़े व्यापारी संतोष के एक बालिका-विद्यालय में हेडमिस्ट्रेस की जगह का उसे पता लगा।

संतोष बाबू शहर के सबसे बड़े रईस, सज्जन, समाजसेवी और नई अवस्था के, नई विचारधारा के व्यक्ति थे।

नीना जब नौकरी के लिये संतोष बाबू से मिलने गई तो बातचीत के सिलसिले में उसे ज्ञात हुआ कि संतोष बाबू व उसके पिता जी की खूब घनिष्ठता थी। फिर तो नीना को फौरन ही हेडमिस्ट्रेस की जगह मिल गई।

संतोष बाबू की सहृदयता का नीना पर भरपूर असर पड़ा। संतोष सभी काम अपने हाथों करते, व्यापार के अलावा बालिकाविद्यालय को भी प्रतिदिन एक घंटे का समय देते।

नीना जिस दिन प्रथम बार स्कूल गई तो उसक वहाँ बहुत स्वागत हुआ। लड़कियाँ भी खुश हुईं; क्योंकि पहले वाली हेडमिस्ट्रेस बुरे स्वभाव की थीं। परन्तु नीना को अपनी इस नई स्थिति में जाने कैसा लग रहा था।

संतोष बाबू रोज शाम को आते रहे। उस दिन उनके दफ़्तर में बैठते ही नीना सामने गई, पर उस समय उसकी दशा नव बंदी पक्षी की ही तरह थी। पता नहीं संतोष बाबू के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा है जो सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उसके व्यक्तित्व का पूरा प्रभाव नीना पर भी पड़ा। सुन्दर लम्बा गठीला शरीर था—देखने में भी

मजबूत—आँखें बड़ी-बड़ी चमकीली। और काम करने में इतने फुर्तीले और चुस्त कि शायद उनसे कभी कोई गलती न हुई होगी।

एक दिन की बात है। विद्यालय बन्द हो चुका था। नीना और संतोष आफिस के कमरे में थे। अन्य अध्यापिकाएँ जा चुकी थीं। नीना अपने व्यक्तिगत विषयों पर किसी से भी बातें न करती थीं, पर आज जब संतोष ने उसके सम्बन्ध में पूछा तो जाने क्यों नीना ने सब बताना शुरू किया।

नीना बहुत भावविभोर होकर अपनी कठिनाइयों की चर्चा संतोष से कर रही थी और संतोष ने सदैव ही नीना को अत्यधिक निकट से देखने का पहचानने का प्रयत्न किया है। एकाएक संतोष ने हाथ बढ़ा कर टेबिल पर पड़े नीना के हाथ की सुन्दर उँगलियों को अपने हाथ में ले लिया। नीना को लगा जैसे उसे बर्फ की चट्टान छू गई हो और वह सुन्न-सी हो गई।

"हारमोनियम बजाना जरूर जानती होगी तुम!" उँगलियों को ध्यान से देखकर संतोष ने कहा।

"हाँ। पर क्यों?" नीना ने आश्चर्य तथा जिज्ञासा से उसे देखते हुए पूछा।

संतोष ने वातावरण के भार को तनिक हलका करते हुए कहा, "इसलिए कि तुम टाइप भी बहुत अच्छी तरह और तेजी से कर सकती होगी। मैं तुम्हें अपनी सेक्रेटरी बनाना चाहता हूँ, ताकि मेरे व्यक्तिगत पत्रों का तुम उत्तर लिख दिया करो, बस इतना काम।"

नीना को कुछ भी कहने की हिम्मत न पड़ी। अनिच्छा होने पर भी वह चुप ही रही। और इसे संतोष ने उसकी स्वीकृति समझा।

चलते समय संतोष ने नीना को भी साथ ले लिया। बंगले पर

लाया । अपने कमरे में ले गया और एक कुरसी की ओर इशारा किया—"बैठो ।"

क्षण भर सन्नाटा रहा, जो नीना और संतोष दोनों को बुरा लग रहा था । संतोष ने ही फिर कहा, "कहो नीना तुम्हें स्वीकार है ?"

नीना ने धड़कते हृदय से कृत्रिम मुस्कुराहट लाकर कहा, "कोशिश करूँगी ।"

नीना का यह ढंग देखकर संतोष को हँसी आ गई । वह खिलखिला कर हँस पड़ा । जाने नीना को कैसा लगा । वह भी हँस पड़ी, फिर दोनों ही फूट कर हँस पड़े । अकारण ही दोनो के दिलों में एक हँसी गूँज गई । और दोनो ने एक दूसरे की हँसी को अपनी ही समझा ।

नीना ने धीरे-धीरे संतोष के व्यक्तिगत खतों का सारा काम अपना लिया । संतोष उससे खुश तो था, परन्तु कभी-कभी वह जब उलझन में होता तो नीना को भी कभी-कभी कुछ कह दिया करता था । इससे सचमुच वह उदास हो जाता था । अपनी स्थिति कुछ अजीब-सी लगती ।

कुछ दिनो तक इसी तरह काम चलता रहा । संतोष प्रतिदिन डाक से आई चिट्ठियाँ खुद खोलकर पढ़ता और उत्तर नीना को समझा दिया करता था । इधर लगभग एक सप्ताह से संतोष किसी व्यापारिक उलझन में बुरी तरह फँस गया था, सो वह अधिक समय अपने व्यक्तिगत कामों में नही दे पाता । डाक काफी इकट्ठी हो गई थी, सो नीना ने उन्हें खोल डाला और सजाकर संतोष की मेज पर रख दिया; ताकि वह देख ले तो नीना उत्तर दे दे ।

फिर ज्यों ही वह कमरे में आया कि उसकी दृष्टि मेज पर रखी खुली चिट्ठियों पर पड़ी । देखते ही उसने पूछा, "यह चिट्ठियाँ किसने खोली हैं ?"

नीना को लगा जैसे उसने भारी भूल की है। उसने एक बार भय के साथ संतोष की ओर देखा। फिर कहा, "मैंने।"

संतोष क्षण भर नीना को घूरता रहा। उसकी आकृति से क्रोध प्रकट हो रहा था। उसने कहा—"देखो नीना—अब मेरी चिट्ठियाँ कोई न खोला करे। मैं यह पसन्द नहीं करता कि...... ।"

नीना ने उत्तर में क्षमा माँगनी चाही पर उसके मुँह से कुछ न निकला। आँखों में आँसू छलाछला आये। सन्तोष ने यह देखा तो उसे अपने किए का ज्ञान हुआ। वह आगे बढ़ आया और नीना के कंधे पर हाथ रख कर दूसरे हाथ से उसकी ठुड्डी पकड़ कर चेहरा ऊपर उठाया। आँसू तो झलक ही रहे थे—स्पर्श पाकर लुढ़कने लगे। नीना का शरीर कांपने लगा। यह पहला अवसर था जब नीना को किसी पुरुष का इतना निकट स्पर्श प्राप्त हुआ था।

नीना ने आँसू पोंछ लिये। फिर ज्यों ही दोनों की आँखें मिलीं संतोष मुस्कुरा उठा। बोला—"तुम जितनी सुन्दर हो तुम्हारा हृदय भी उतना ही कोमल है। तुम व्यर्थ दुखी हो रही हो। मैंने तुम पर क्रोध नहीं किया, परन्तु यदि मेरे कहने पर तुम्हें दुख पहुँचा हो तो मुझे क्षमा करना और भूल जाओ।" नीना के कपोल पर एक हल्की-सी चपत लगाते हुए तुरन्त ही वह कमरे से बाहर चला गया।

"भूल जाओ।" यह शब्द जैसे नीना के पूरे शरीर में व्याप्त हो गया। उसे सहसा अपने साथ काम करने वाली अन्य अध्यापिकाओं की याद आई। उनमें और उसमें सचमुच कितना अन्तर है—सभी का व्याह हो चुका है। सभी को जीवन के स्नेह का मधुरस प्राप्त है। पति हैं बच्चे हैं—पर कौन कह सकता है कि जीवन के पथ पर नीना की यह पराजय है?"

नीना की अजीब दशा थी। सन्तोष ने उसे सुन्दर कहा है, पर क्या

वह सचमुच सुन्दर है। उठकर वह शीशे के सामने खड़ी हो गई। शीशे में अपनी छवि को पारखी की दृष्टि से देखा। उसने देखा—गोल छोटा-सा चेहरा, काली बड़ी आँखें—लम्बे मुलायम बाल-सचमुच काफी अच्छे हैं। वास्तव में वह सुन्दर है। सन्तोष ने ठीक ही कहा था।

कुछ क्षण विचारमग्न हो शीशे के सामने खड़ी होकर उसने अपने बालों को नए प्रकार से संवारा। कपड़े ठीक किए। अब वह अपने को जितना भी आकर्षक बना सकती थी, बनाने की कोशिश करने लगी। इस समय संतोष द्वारा किए गए अपमान व उपहास को वह एक प्रकार से भूल-सी गई।

इसके बाद उसने ऐसा अनुभव किया जैसे संतोष बहुत तेजी से उसकी ओर खिंचा आ रहा हो।

जिस दिन संतोष नीना पर चिट्ठियों के लिए बिगड़ गया था, उस दिन से उसका व्यवहार नीना के प्रति बिल्कुल बदल गया था। कभी-कभी तो वह बिना कुछ कहे सुने ही उसके कमरे में आता और यदि नीना काम भी करती होती तो उसका हाथ अपने हाथों में ले लेता। उसकी एक एक उँगलियों को चूमता और प्यार के कुछ शब्द कहता, परन्तु इस समय नीना के हृदय की धड़कन इतनी तेज रहती थी कि वह कुछ भी न सुन पाती।

घर आकर नीना इन घटनाओं पर विचार करती। प्रेम के सम्बन्ध में वह बिल्कुल अनभिज्ञ थी। कभी-कभी वह सोचती, कहीं इसका परिणाम बुरा न हो। फिर सोचती कि नौकरी छोड़कर इस घुटन से छुट्टी पा जाए, पर दूसरे दिन ही उसे अपना निश्चय बदल देना पड़ता।

जाड़े के दिन थे। शीत में यौवन का उन्माद तीव्र हो उठता है। नीना ने उठकर कमरे की खिड़की खोल दी। ठंढी हवा का एक हल्का

पर तीखा-सा झोंका आया और वह काँप उठी। नीना का जीवम भी तो आज इसी तरह कांप रहा है !

इधर कुछ दिनों से जब वह संतोष के यहाँ जाती तो देखती कि संतोष काम में बहुत व्यस्त रहता है। फलतः नीना को भी चुपचाप चिट्ठियों का जवाब देना पड़ता। उस दिन तो नीना बिल्कुल अकेली थी। आफिस की विशाल इमारत उसको जैसे बिल्कुल छोटी-सी प्रतीत हो रही थी। उसकी दृष्टि अपने कमरे में ही नाच रही थी। हवा का झोका वह सह न सकी। खिड़की उसने बन्द कर दी और फिर अपने काम में जुट गई।

एकाएक नीना जैसे चौंक गई। कमरे में कोई आया। पर कोई तो अभी था नहीं और किसी का आना भी उसे ज्ञात नहीं हुआ। उसे लगा जैसे कोई उसके पीछे खड़ा था। उसे एक अजीब डर सा लगा। वह सिर घुमा कर देख भी नहीं पा रही थी कि वह है कौन ? थोड़ी देर तक इसी हिचकिचाहट के बाद हिम्मत बाँध कर उसने सिर घुमाया। वह एकदम कुर्सी से उछलकर खड़ी हो गई।—"अरे संतोष बा...।',

संतोष को इस प्रकार छिप कर अन्दर आना उसे बहुत अजीब और रहस्यमय मालूम हुआ। वह इतना घबरा गई थी कि एक क्षण के लिये उसे दुनिया काली दिखने लगी। सन्तोष ने पहले गौर से उसे देखा, फिर आगे बढ़ आया और दूसरे क्षण उस कमरे की एकाकी निस्तब्धता में नीना उसकी बाहों में बंधी थी—कसी थी।

और नीना ! उसके शरीर में जैसे शक्ति ही न रह गई थी। वह विरोध भला क्या करती ? सन्तोष की बाहों के बीच वह एक प्रस्तर प्रतिमा या मिट्टी के लोंदे से अधिक कुछ न थी।

"ओह नीना !" सन्तोष कह रहा था—"तुम से दूर रहने की मैंने बहुत कोशिश की पर मैं असफल हुआ। तुमने मुझे जीत लिया है।"

इन शब्दों ने नीना पर जैसे नशा छा दिया, उसने विरोध का कोई भी प्रदर्शन न करके अपने को पूर्णतया संतोष की मरजी पर छोड़ दिया। वह संतोष को जीत गई थी न !

स्त्री की यही शायद कमजोरी होती है कि यदि किसी को वह प्यार करती है तो आँख मूंदकर और अवसर आने पर अपने को पूर्णतया समर्पण कर देने में भी उसे झिझक नहीं रह जाती। नीना को सन्तोष का यह व्यवहार जाने क्यों बहुत सुखद मालूम हुआ।

इसके बाद——जैसे सब कुछ बदल गया। स्कूल बन्द हो जाता—सभी अध्यापिकाएँ चली जातीं तो भी नीना सन्तोष की प्रतीक्षा करती। संतोष आता। कई दिनो तक वे दोनों आफिस के एकाकी कमरे में मिलते रहे।

स्त्री पुरुषो पर बहुत जल्दी बिश्वास कर लेती है। एक दिन दोनों बैठे बातें कर रहे थे कि बातो के बीच सन्तोष ने अपनी पत्नी की चर्चा चलाई।

"तो संतोष विवाहित है?" नीना के हृदय पर इसका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि, लगा कि वह बेहोश हो जायगी। संतोष कह रहा था ··

"नीना यदि मेरा विवाह तुम से होता तो कितना अच्छा होता।"

नीना अवाक् रही। संतोष ने बताया। उसकी पत्नी उसके पसन्द की नहीं। शादी ही बिना पसन्द की थी। वह बहुत भद्दी है। देखने में फूली लाश, और स्वभाव की कर्कशा। वह सदा अपने मायके ही रहती है। पिता बड़े आदमी हैं। उसे न तो संतोष की फिक्र न संतोष को उसकी।

नीना के प्रति संतोष के झुकाव का यही कारण था। परन्तु नीना

की नाव तो इस समय मंझधार में थी; न वह आगे बढ़ पाती न वापस लौट सकती थी।

दो साल बीत गए—नीरस, निष्प्राण। नीना अब इक्कीस वर्ष की थी। इस बीच अनेक घटनाएँ घटीं। नीना की मौसी भी मर चुकी थीं। हाँ, जीवन में केवल एक ही स्थान पर स्थिरता रही। सन्तोष के साथ उसका कार्य पूर्ववत् चलता रहा।

पर घर पर नीना का जीवन बिना मौसी के बिल्कुल एकाकी हो रहा था, जो उसके लिये असह्य था। संतोष से भी उसने राय ली और अपना मकान बीस हजार रुपयों पर बेच दिया। यह रुपया उसने बैंक में रख दिया। अपने खर्चों की उसे चिन्ता न थी—संतोष के साथ ही वह रहती थी। स्कूल से तनख्वाह, फिर संतोष की कृपा! इतना काफी था। लेकिन यह सब होते हुए भी वह सदा उदास रहती। यह क्यों? वह इसे न जान पाई।

कभी-कभी जीवन में ऐसी घटनाएँ भी घट जाती हैं, जिनकी हम कभी कल्पना भी नहीं करते। नीना ने भी यह कभी न सोचा था कि उसके इस प्रेम का परिणाम क्या होगा? सहसा एक दिन उसने अनुभव किया कि वह गर्भवती है। उसे तो पहले इस बात का विश्वास नहीं हुआ परन्तु सत्य वह है जो उभर कर रहता है। अपने और संतोष के व्यवहार को वह भूली भी तो न थी! कुछ ही दिनों बाद वह एक बच्चे की माँ बनेगी। पर संसार की दृष्टि में वह अविवाहित जो है! दुनिया उसे क्या कहेगी? समाज उसे घृणा की दृष्टि से देखेगा। नहीं—नहीं। यह कभी सत्य न होगा। वह अविवाहित है! पर जो सत्य है वह उसे असत्य कैसे बना सकती है!

चिन्ता से उसका शरीर सूखा जा रहा था। एक दिन सन्तोष ने नीना से उसका कारण पूछा। पहले तो उसने बहुत टाला फिर बड़ी कठिनाई से कह पाई।

"मैं गर्भ...." आगे वह न कह सकी। आँखें जमीन में गड़ गईं। जैसे किसी ने गला पकड़ लिया।

"क्या ?" सन्तोष तो जैसे आसमान से गिर पड़ा।

"हाँ।"

पहले तो सुनकर सन्तोष इतना घबड़ाया कि उसकी कुछ समझ में न आया। पर फिर उसने अनुभव किया कि इसका उत्तरदायित्व तो उसी पर है। पर उसकी चेतना शून्य-सी हो गई थी। नीना ने उसकी आँखों में आँखें डाल कर देखा—सोचा—यह सन्तोष कैसा का पुरुष है।

काश, नीना जानती कि सभी ऐसे ही होते हैं।

नीना को यह असह्य हो उठा। उसने कहा—"सन्तोष बाबू इसके भागी तुम्हीं हो।"

सन्तोष केवल उसका मुँह ताकता रहा। नीना अपनी संतान के विषय में सोचने लगी। एकाएक उसने अपना सिर तेजी से हिलाया जैसे उसने कुछ निश्चय किया हो। सन्तोष यह सब देख रहा था।

"संतोष डरो मत, मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती। मैं तुमसे दूर चली जाऊँगी। दूसरे बड़े शहर में! अपनी संतान का मैं भार स्वयं सम्हाल लूँगी। मकान वाला उतना रुपया काफी होगा। तुम्हारा नाम भी कोई न जान पायेगा। पर मुझे तुम से इस प्रकार की कायरता की आशा कदापि न थी।

"लेकिन मैं तुम्हें इस प्रकार कहीं न जाने दूँगा।" संतोष ने कहा।

"पर मैंने पहले ही सब कुछ निश्चय कर लिया है।" नीना ने कहा, "और यही ठीक है कि इसी समय मैं अलग हो जाऊँ!"

"लेकिन तुम जाओगी कहाँ ?"

"कहीं भी जाऊँ; तुम बिल्कुल मत डरो। सारा बोझ मैं खुद ही उठा लूँगी। मैं कभी भी तुम्हारे पास न आऊँगी और न कोई यही जान पाएगा कि यह तुम्हारी सन्तान है। तुम अपने को मुक्त समझो।"

"नीना! मुझसे इतनी घृणा मत करो।" उसकी वाणी कांप रही थी।

नीना के निश्चय ने उसे तनिक कठोर अवश्य बना दिया था, वह जानती थी कि सन्तोष को वह घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकती। हाँ, उसकी कमजोरी से उसे अवश्य घृणा थी। सन्तोष के प्रति उसके मन का प्रेम कभी कम नहीं हो सकता। उसने कहा—

"सन्तोष मैं तुमसे घृणा नहीं करती। पर हाँ, मेरे जीवन में अब तुम्हारा कोई स्थान नहीं।" सचाई और दृढ़ता से उसने कहा।

सन्तोष सब सुनता रहा। अपने स्थान से हिलने का उसका साहस न हो रहा था।

उसी दिन नीना ने दिल्ली छोड़ दिया। वहाँ से वह सीधे कलकत्ता पहुँची। वहाँ उसने शहर के बाहर एक छोटा-सा मकान किराये पर लिया और अपने जीवन के एक मात्र आधार अपनी सन्तान की ही चिन्ता में लीन हो गई।

समय आने पर वह अस्पताल में भरती हो गई। और वहीं विनय

का जन्म हुआ। फूल-सा विनय, रेशम के गुच्छे-सा बाल, और नीना का स्वरूप!

नीना का जीवन एक बार फिर हरा भरा हो गया। अब वह अपने बच्चे के साथ खेला करेगी। उसे प्यार करेगी। जब वह माँ कह कर उससे लिपट जायगा, तब उसे कितना सुख मिलेगा। नीना ने एक नौकरानी भी रख ली। पासपड़ोस से अधिक मिलती-जुलती न थी इसलिए सारा समय अपने विनय के साथ ही हँस खेल कर काटती।

धीरे-धीरे विनय छः वर्ष का हो गया। वह बिल्कुल नीना की शकल का था। नीना समय-समय पर विनय की सूचना सन्तोष को भेजती रहती। सन्तोष अवसर आर्थिक सहायता करना चाहता, परन्तु नीना ने कभी भी यह स्वीकार न किया।

एक दिन नीना विनय का एक चित्र लिए हुए देख रही थी कि सहसा उसकी इच्छा हुई कि वह चित्र वह सन्तोष के पास भेज़ दे। देखे कि सन्तोष पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। सो उसने चित्र के पीछे लिखा—"मेरा प्यारा बेटा— जिससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं नीना।" और पत्र के साथ चित्र भेज दिया।

पत्र भेजने के साथ ही प्रतीक्षा करने लगी उत्तर की।

फिर एक सप्ताह बाद उत्तर आया—

"प्रिय नीना—

तुम्हारी इस सहायता के लिये मैं ऋणी हूँ। तुमने कितनी निर्मम भावना मेरे लिए बना ली होगी। मैंने जो भूल की उसका प्रायश्चित कर रहा हूँ। अपनी ओर से अनभिज्ञ रख कर तुमने मुझे जो क्लेश पहुँचाया—उसका वर्णन भी करने की शक्ति नहीं है।

विनय के लिए मेरी यही हार्दिक इच्छा है कि वह भी अपने माँ की तरह ही साहसी व धैर्यवान बने।

—संतोष"

इस पत्र के बाद जाने क्यों नीना ने फिर संतोष से कोई भी सम्बन्ध न रखा।

और आज इसे जाने कितने वर्ष हुए। नीना आज जीवन की सांझ भी पार कर रही है। अखबार की इस सूचना ने उसके जीवन के सूरज को भी विलीन कर दिया है। वह सोच रही थी।

तभी विनय अपनी पत्नी की सिफारिश करने आ पहुँचा—"अम्मा!"

"हाँ बेटे, बहू इलाहाबाद जाना चाहती है। भेज दो पर कहना ज़ल्दी आकर घर को सम्हाल ले। मेरे जीवन की सांझ भी बीत रही है। क्या ठिकाना किस दिन ......।"

कहती हुई नीना उठ कर कमरे में चली गई।

विनय काठ-सा खड़ा रहा—आखिर माँ को क्या हुआ?

किवाड़ की ओट मे बहू देख रही थी—"माता जी मे यह परिवर्तन कैसा?"

पर कोई यह नहीं जानता कि नीना पर क्या गुजर रही है। उसके जीवन का सूरज अस्त हो चुका था......वह न बहू, न बेटे, किसी का दिल नही तोड़ना चाहती।

मनहूस साँझ

आकाश के बादल जितने घने होते जाते थे, कामिनी का मन भी भारी होता जाता था। और बादल ज्यों-ज्यों गरजते थे उसका दिल बैठा जा रहा था। अभी तक तो वह कमरे भर में ही टहल-टहल कर अपनी बेचैनी दबाने की व्यर्थ कोशिश कर रही थी परन्तु अब उससे न रहा गया और बेचैन होकर वह कमरे से निकल बरामदे में टहलने लगी।

तभी उसके पाँच वर्ष के बेटे राज ने उसका ध्यान तोड़ा। लान की क्यारियों में पानी भर कर वह चीख उठा—

"माँ, अब कितना पानी भरना होगा।"

एक बार सिर उठा कर कामिनी ने बेटे की ओर निहारा और हँस कर धीरे से कहा, "बरसात में भी कहीं क्यारियों में पानी दिया जाता है। पागल कहीं का।" और वह फिर अपनी चिन्ता में डुबकी लगा गई।

परन्तु शायद माँ की बात राज नहीं सुन सका, क्योंकि उसने कहा भी तो कितनी धीमी आवाज में ही था। वह फिर पुकार उठा—

"माँ बताओ न!"

कामिनी की चिन्ता को फिर एक झटका लगा। वह घूम कर देखने लगी बेटे को। परन्तु उसकी आँखें फौरन बेटे पर से हट कर सूनी सड़क पर मंडराने लगीं। बेसब्री से जब किसी की प्रतीक्षा होती है तो ऐसा ही होता है।

कामिनी ने धकड़ते हृदय से देखा कि अभी पूरी तरह शाम भी नहीं हुई थी। परन्तु बरसात की घटा ने दिन को शीघ्र ही समाप्त कर दिया था। पेड़ों के नीचे सिमटा हुआ अंधेरा अब वहाँ से हट कर कमरों में घुसने लगा था। उसकी आँखें सड़क पर पश्चिम की ओर दूर तक भटक गईं, परन्तु आगे जाकर पेड़ों के झुरमुट के अंधेरे से टकरा कर उन्हें भी वापस आना ही पड़ा।

अभी कोई देरी भी नहीं हुई थी। उसका पति दयाल शायद ही कभी इतनी जल्दी दफ़्तर से वापस आता था, परन्तु आज जाने क्यों उसके मन के एक कोने में यह विश्वास घर कर चुका था कि वह आज अवश्य ही जल्दी आ जाएँगे। इस आशा से वह अपनी आँखें सड़क पर बिछाए हुए थी।

घर से पश्चिम की ओर सड़क के किनारे वह नीम का विशाल वृक्ष

अब पूरी तरह अँधेरे के कुहरे में ढंक चुका था। और रह रह कर भूतों की तरह उसकी आकृति कभी-कभी तनिक स्पष्ट हो जाती थी।

आज बरसात से शाम सूनी तो अवश्य हो गई थी परन्तु यों काफी सुहावनी ठण्डी हवा चल कर मन प्रसन्न कर रही थी। हवा के एक ही झोंके ने कामिनी को तनिक निश्चिन्त किया और वह अनेकों मधुर स्मृतियों को अपने मन में समेटने लगी। चेहरे पर तनिक चमक आई।

वह टहलते-टहलते थकान का अनुभव करने लगी और जाकर बरामदे की सीढ़ियों पर पाँव लटका कर बैठ गई ताकि सामने की सड़क पर उसकी दृष्टि बिना रुकावट के काफी दूर तक जा सके। इस समय वह अपना पाँव लटकाए हथेली पर चेहरा टेक कर बैठी थी तभी कूद कर राज उसके पीछे आ गया। माँ को उदास और चिन्तित देख कर वह अपनी बाहें उसके गले में डाल कर लटक गया। गिरते-गिरते कामिनी बची। उसने झिंझोर कर राज को अलग किया। फिर राज उदास न हो जाय, इसलिए अपनी हथेली में उसके मुँह को पकड़ कर प्यार से हिलाया और भाव-विभोर होकर उसका मुँह चूम लिया।

तभी पड़ोस के कच्चे मकानों के समूह से, जहाँ घर की नौकरानियाँ आदि रहती थीं, एक कोहराम उठा और दूसरे क्षण ही वह एक सामूहिक रुदन में बदल गया।

सुनकर क्षण भर को कामिनी ने सिर उठाया और तभी राज ने पूछा—"माँ वे लोग क्यों रो रहे हैं?"

"दाई का लड़का कल मरा है न बेटा। कोई आया होगा, इसीलिये रुलाई हो रही है।"

"वह क्यों मर गया माँ?" बच्चे ने अपने भोलेपन से पूछा।

"एक दिन सभी आदमी मरते हैं बेटा।" तनिक भावुक दार्शनिक होकर कामिनी ने कहा और फिर अपने सोच में ही डूब गई।

"माँ, सभी मरते हैं तो एक दिन पापा मर... ...।" लड़के ने अपनी स्वाभाविक आवाज में ही कहा, परन्तु वह अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि कामिनी चीख उठी! जाने क्यों बेटे की यह भोली बात माँ के कलेजे में तीर-सा लगा और वह कराह उठी। इस मनहूस शाम को बेटे के मुँह से यह अशुभ शब्द.......! अपने आप ही कामिनी का हाथ घूमा और एक तमाचा राज के चेहरे पर पड़ा। एक नारी बेटे के मुँह से भी पति के लिये बुरा नहीं सुन सकती।

राज चीख पड़ा। उसकी समझ में न आया कि आखिर उसने कौन-सी बुरी बात कही, जो माँ ने ऐसा व्यवहार किया। वह चिल्ला कर कर रो पड़ा।

अभी तक कामिनी ने अपने हृदय को जो तनिक सांत्वना दी थी वह एकाएक टूट गया और आशंका का समुद्र फिर उसके छोटे-से हृदय में लहराने लगा। वह बेटे की बात को दिल से निकाल फेंकना/ चाहती थी परन्तु वह जितना ही उससे बचती थी वह बात उस पर हथौड़े की चोट की तरह पड़ रही थी।

बेटी की चीख से वह और घबड़ा गई। दयाल भी अभी नहीं आया। बरसात की घटा सारी दुनिया को अँधेरा बना रही थी। ऐसे में जाने वह कहाँ हों, कहीं कोई दुर्घटना न हो जाय। घबड़ा कर वह रोते हुए राज को खींच कर कमरे में ले गई। पुचकारा, परन्तु राज का रोना बढ़ता ही रहा तो खींचकर उसने दो धमाके और दिए और खाट पर तहा कर रखे बिछौनों पर उसे ढकेल दिया। और गद्दे में मुँह छिपाकर राज सचमुच बुरी तरह चीख-चीख कर सारा घर सिर पर उठाए ले रहा था।

कामिनी जब बेटे से पिंड छुड़ा कर बाहर आई तब तक अँधेरा और घना हो गया था और हर तरफ एक डरावनी हवा ने मंडरा कर उसके हृदय को रोने रोने कर दिया था। अब तो उसके पति के रोज आने का समय भी आ गया परन्तु दयाल अभी तक नहीं आया। वह बहुत अधिक आतुर व चिन्तित होकर सड़क के अंधेरे में पति को ढूँढ़ने लगी।

"एक दिन पापा भी......।" यह वाक्य उसके कानों में अब तक गूँज रहा था, हृदय पर मंडरा रहा था। इस शब्द ने सचमुच उसकी आँखों के सामने डर को साकार कर दिया था। उसने चाहा कि हँसकर वह बेटे की बात को भूल जाय और अपना मन हलका कर ले। परन्तु वह जितना ही भूलना चाहती थी, कोशिश करती थी, वे शब्द बुरी तरह गूँजने लगते थे।

अंधेरा बढ़कर कालिमा में बदल गया और कामिनी का डर भी दूना हो गया, आशंका चौगुनी बढ़ गई। आखिर बेटे की बात को भूल जाने के लिये उसने सोचा कि किसी काम में लग जाय तो भूल जायगी।

उसे याद आया कि अब रोशनी कर देनी चाहिए। स्विच दबाया पर रोशनी न हुई। लो, आज बिजली भी खराब हो गई। इस मनहूस शाम को बिजली का बिगड़ना, घर का अँधेरा रहना, उसकी आशंका को दूना कर रहा था। ऐसे अवसरों के लिए उसने एक लैम्प भी रख छोड़ा था। उसे लाने वह रसोईघर में गई। पर वहाँ पाँव रखते ही वह थम गई। खड़बड़ाहट के स्वर में एक चूहा इधर उधर भागा। ऐसा नहीं कि वह चूहों से डरती हो, बल्कि वह तो इस छोटे घर में चूहों से इस तरह परेशान हो गई थी कि अक्सर जब वह सो जाती थी तो वे उसकी खाट पर चहलकदमी करते थे। परन्तु जाने क्यों चूहों का भागना भी उस समय उसकी आशंका को बढ़ा गया। उसे लगा जैसे वे चूहे नहीं

भूत दौड़े हो। उसका कलेजा इतनी जोरो से धड़कने लगा कि वह धड़कन की आवाज खुद साफ सुन रही थी।

"यह भी क्या मूर्खता है!" अपने को समझाने को उसने कहा, "मैं राज के भोले वाक्या पर क्यों इतना चिढ़ी, क्या इतना डर गई? अपने पर और अपनी मूर्खता पर उसने हँसने की कोशिश की। और हिम्मत जोड़ कर वह आगे बढ़ी तथा लैम्प उठा कर कमरे में लाई। खाट पर बिछौना में दबा राज अब रोते-रोते सो गया था, परन्तु उसकी हिचकियाँ अब भी कामिना पूरी तरह सुन रही थी।

उसने देखा कि लेम्प का शीशा साफ था और बत्ती भी ठीक कटी थी। परन्तु उसे तो अपने को किसी न किसी काम मे फँसाये रखना था इसलिए उसने शीशे को निकाल लिया और आँचल के किनारे से उसे रगड़ने लगी।

तभी दरवाजे पर कुछ आहट हुई। झटक कर वह उठी और शीशा हाथ से गिर कर फर्श पर टूट कर बिखर गया पर उसकी भी चिन्ता न करके वह पति से मिलने दरवाजे की ओर भागी—पर वहाँ कोई नहीं था—शायद हवा का झोका किवाड़ो को हिला गया था।

खट्टे दिल से वह वापस आकर शीशे के टूटे बिखरे टुकड़ो को बिनने लगी। एक एक टुकड़े को उठाते समय उसे लगता था मानो वह अपने टूटे हुये हृदय के एक एक टुकड़े को समेट कर फिर उसमे ताकत लाने की कोशिश कर रही है। तभी एक काँच का टुकड़ा उसकी उँगली मे चुभ गया। पर कामिनी ने उसकी चिन्ता न की, क्योंकि उसका मानसिक कष्ट इस काँच के गड़ने से कहीं अधिक भयानक था।

तभी दो बूँद खून टपक कर जमीन पर गिर पड़ा। कामिनी ने ज्योंही खून का वह कतरा देखा कि फिर हृदय काँप उठा! इस मनहूस साँझ में खून का दर्शन!

एक बूँद खून उसकी आशंका के समुद्र में तूफान उठाने की शक्ति रखता था।

अपनी तकदीर को धिक्कारती हुई वह उठी, लपक कर पाइप पर जाकर उंगली को धो डाला और उस पर भींगा कपड़ा लपेट लिया।

वहाँ से लौट कर आई तो उसकी दृष्टि सामने के शीशे पर पड़ी। पर वह भी इस समय अंधा हो रहा था। कामिनी जरा पास गई ताकि अपने चेहरे को देख कर वह सांत्वना पा सके कि सचमुच वह घबड़ाई नहीं है।

परन्तु यह क्या ? सचमुच अब बिना रोए उससे न रहा जाएगा।

शीशे में देखा उसने कि उसका माथा साफ था। उसके बालों को बीच से दो हिस्सों में बाँटने वाली माँग की रेखा बरसात के बाद की साफ सड़क की तरह साफ थी। उसका कुंकुम जाने कब इसी बेचैनी में पुंछ गया था।

माँग पुंछ गई थी !

माँग ! सौभाग्य की निशानी मिटी थी !

यह अपशकुन !

उसे अच्छी तरह याद है शाम को उसने कुंकुम भरा था। अवश्य ही किसी समय भूल से उसने पोंछ लिया होगा। नही नहीं। वह ऐसा नहीं कर सकता। कहा खेल के समय राज ने तो नहीं पोछ दिया ? राज का ख्याल आते ही उसके शब्द..."पापा भी एक दिन ...." वह आगे न सोच पाई। उसने घबड़ा कर अपने आप प्रश्न किया, आज इस तरह सभी मनहूस निशानियाँ अपना जोर दिखा रही हैं। मुझसे क्या पाप हो गया, जिसका यह बदला मिल रहा है ?"

झपट कर उसने मेज पर से कुंकुम की डिबिया उठाई और कड़े दिल से माँग भर ली और अनुभव किया जैसे उसने घाव पर मलहम

लगा लिया हो। फिर फौरन ही उसने ताख पर रखी हुई लक्ष्मी की मूर्ति के सामने घी का एक दिया जलाया और दूसरे ही क्षण धरती पर लोट कर उसने देवी से प्रार्थना की कि उसके पति को सुरक्षित हालत में घर तक पहुँचा दें।

अब तो काफी समय बीत चुका था। उसके पति के घर आने का समय बीत चुका था। अब दयाल का न आना उसके लिये मौत की घड़ियाँ गिनने की तरह हो रहा था। उसने किसी तरह अपने को सँभाल कर काँच के बिखरे टुकड़ो को साफ किया।

फिर उसने मोमबत्तियाँ जलाईं। तभी उसकी दृष्टि मेज पर रखी घड़ी पर गई। ओह, इतनी देर हो गई। फिर उसने अपने को समझाया, "शायद दफ्तर का काम ज्यादा हो गया हो।"

एक मशीन की तरह अपने आप वह दरवाजे पर जाकर एक बार सड़क के अंधेरे को चीरने की कोशिश करने लगी। यह गहन अंधकार और बादलो का लगातार मंडराना! आकाश तो काला छाता बन गया था। फिर भी उसने आँखें सड़क पर गड़ाए रखा पर कुछ फल न निकला।

तभी एकाएक शेरो के लड़ने की तरह बादल गरज उठे, बिजली चमक गई और दूर अँधकार में, सड़क पर एक आकृति उसे हिलती-डुलती दिखी—उसने सोचा यह अवश्य ही दयाल होगा।

लपक कर रसोई घर में गई और ज़लते चूल्हे में कोयले डालकर उस पर केटली रख दी ताकि दयाल के आते ही उसे चाय दी जा सके। शाम को थकान मिटाने के लिए उसे चाय पीने की आदत है। कोयले जलाकर वह फिर दरवाजे पर आई पर फिर उसे निराशा ही

हुई। वह छाया जो उसे दूर पर दिखाई पड़ी थी, उसी अंधकार में शायद कहीं भटक गई।

कमरे में राज सो रहा था और उसे देखते ही उसके शब्द फिर ताजे होकर कामिनी को सताने लगे।

आज यह इतने अपशकुन !

आज क्या होने वाला है !!

दफ्तर में ऐसा क्या काम हो सकता है कि अब तक दयाल नहीं आ सका ! क्या रास्ते मे ।कुछ हो गया ? तभी फिर बिजली चमकी। इस बार कामिनी का मस्तिष्क तक कौंध गया और उसके मन में हर अपशकुन की संभावनाओं पर उथल-पुथल होने लगी। तभी हवा का एक झोंका कमरे मे आया और मोमबत्ती भभक कर बुझ गई। उसकी काली छाया दीवाल पर नाच उठी!

उसने सुना कि पानी रसोई घर में उबल कर खलबल-खलबल कर रहा था परन्तु अब कामिनी मे इतनी शक्ति नही थी कि वह वहाँ जाकर कटली चूल्हे पर से उतार सके। ऊबकर, विवश होकर वह बेटे के पास खाट पर बैठ गइ और उसके सिर पर हाथ सहलाने लगी। तभी बरामदे मे जूते की चाप सुनाई पड़ी। उसे लगा मानो बेहोशी मे चेतना हो गई। वह उछल पड़ी, दौड़ कर कमरे का दरवाजा खोला। वह सचमुच दयाल था। आखिर किसी तरह आए। दयाल ने कामिनी का घबड़ाया चेहरा देखा तो पुकार कर कहा, "क्या ज्यादा देर हो गई ? आफिस में काम ज्यादा पड़ गया।"

परन्तु शायद घबड़ाहट के बाद शान्ति से फौरन आराम नहीं मिल

पाता। उसने शायद दयाल के शब्द नहीं सुने। अन्तर की खुशी से उसके कान तक झन्ना रहे थे। दयाल आ गया इसी के लिये तो वह घंटों से परेशान थी न ! आखिर वह सकुशल आ गया, परन्तु सचमुच वह कितनी बेवक़ूफ़ थी कि बच्चे के शब्दों पर इतना घबड़ा गई थी। विवशता की मुस्कान उसके ओठों के किनारों पर खेल गई।

परन्तु उसके मन के एक कोने में आशंका अब तक जमी थी। .....

मनहूस सांझ एक गम्भीर और बरसात की डरावनी रात में बदल चुकी थी।

कामिनी खाट पर करवटें बदल कर सोने की कोशिश कर रही थी। और दूसरी खाट पर दयाल और राज सो रहे थे। तभी उसे याद आया राज का वह वाक्य..."एक दिन पापा भी......।"

उसके हृदय में एक आवाज उठी। शाम को शुभ लक्षण अपना फल दे ही जाते हैं।

एकाएक वह अपनी खाट पर से उछल पड़ी और घबरा कर पति को जगाना शुरू किया।

घबड़ा कर दयाल उठा। "क्या बात है ! क्या बात है कामिनी ? क्यों जगाया ?"

परन्तु कामिनी कुछ उत्तर न दे पाई। दयाल जाग गया था उसका डर छूट गया था। उसने कहा,

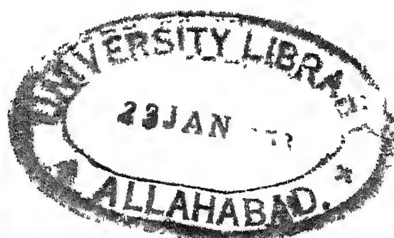
"कुछ नहीं, तुम्हारी खाट पर चूहा था ?"

दयाल हँस पड़ा। कामिनी की पीठ थपथपा कर कहा, "चूहा ? शेर तो नहीं था ? अच्छा जाओ आराम करो।"

दयाल की थपकी से उसे बड़ा आराम मिला। पति-स्पर्श से शाम की सारी घटनाएं एक सपना-सी लगी—एक ऐसा सपना जो भूल गया हो।

अब दयाल घर में था तो जैसे दुनिया की सारी शान्ति उसके पास हो।

मनहूस शाम की सारी मनहूसियत उसने पति की एक प्यार भरी थपकी में ही भुला दी।



गोपी

"डाक्टर ने तो कहा था कि आज रात वह अवश्य मर जायगा। कल का नया सूर्य शायद ही वह देख सके पर अभी तक वह मरा क्यों नहीं?"

मृत्युशय्या पर करवटें बदलने की कोशिश करते हुए उस बूढ़े गोपी ने धीरे से कहा। ढाई महीने की इस बीमारी ने उसे अब मर जाने को बाध्य कर दिया था। इसी लिए वह मरने को इतना उत्सुक भी हो गया था। रात को वह मर जायगा—यह सुनकर वह कितना खुश हुआ था मानो उसे कठिन कारावास से मुक्त होने को कहा गया था। पर यह तो रात के दो बजने को आये, तो क्या वह नहीं मरेगा? पर ऐसा कैसे हो सकता है? उसे मर ही जाना चाहिए। संसार उसके लिये नरक हो गया है। अब तक वह पूरे पचास साल दुनिया की सैर कर चुका। इस पचास में तीस साल उसका मिलों में ही बीता है। सदा ही वह किसी

न किसी मिल का मजदूर रहा है। शायद इसीलिये वह पैदा भी हुआ था।

जीवन में अभी तक उसने जाने कितनी मिलों का पानी पिया है। कहीं एक जगह वह पाँच साल से अधिक नहीं टिक सका। यह खास बात थी। इस तरह मरने के पहले ये सभी बातें गोपी को याद आने लगी। कलेजे में एक दर्द उठा। आह करके उसने करवट ली और आँखें बन्द कर ली। आँखों के बन्द होने पर सामने एक काला-काला परदा टँग गया और उस पर बनते-बिगड़ते चित्रों को वह ध्यान से देखने लगा। सबसे पहले उसने देखा दो प्राणियों को। दोनों ही अब तक मर चुके थे। एक उसकी पत्नी मुँदरी और दूसरा उसका सुख-दुख का साथी हीरू। मुँदरी की सुधि आते ही वह बेचैन हो उठा। विकलता उसके रोम रोम में व्याप्त हो गई। हाय! यदि आज मुँदरी जीवित होती तो क्या इस अन्त समय में भी उसे इतनी परेशानी होती। आज वह उसके सिरहाने बैठकर उसका सिर अवश्य दबाती। उसे भी मारने वाला वही था। गोपी के ही मार से मुँदरी की मृत्यु हुई थी। भले ही गोपी को वह पसन्द न थी तो क्या हुआ, वह उसकी सगी थी। उसे उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार कभी न करना चाहिये था।

उसे याद आया। पन्द्रह साल पहले का वह दिन जब एक मिल से उसे निकाल दिया गया था। दूसरे शहर के लिए उसने रास्ता पकड़ा था। उस दिन, दिन भर वे सफर करते रहे। शाम को एक नीम के नीचे उन्होंने पड़ाव डाला। साथ में केवल मुँदरी थी और उसकी गोद-वाली बच्ची जिसका उसने नाम रक्खा था सोना और हीरू जो अपने निठल्लेपन के लिए मशहूर था और बात बहुत करता था, पेड़ के नीचे पड़ाव डालते ही वह बैठकर हाय-हाय करने लगा।

"क्या शोर मचाने लगा......।" गोपी ने डाँटा।

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

"तब चुप रहो।"

"हाँ, भउजी को साथ लाये हो न तभी चुप करा रहे हो।" हीरू ने व्यंग किया।

"मुँदरी मुँह छिपाकर मुस्करा रही। गोपी हँसी पीकर बोला—"चल अगले स्टेशन से तार दे देना बुधिया को।"

"हाँ, हाँ ठीक है कितनी दूर है स्टेशन?"

"जितनी दूर सरग है।"

"तब तो दूर है, इतने दिन भला कैसे कटेंगे?" हीरू ने कहा!

"फिर करेगा क्या?"

"हम तो लौट जायँगे।"

"बड़ा बुजदिल है, फिर वही डर की बात करने लगा।"

"अच्छा भाई यह बताओ क्या वहाँ चलने पर तुरन्त काम मिल जायगा!"

"जरूर मिलेगा, नहीं तो हम लोग मजदूर-यूनियन में शामिल हो जायँगे।"

"और नहीं तो हड़ताल करा दोगे, क्यों?" दाँत निकाल कर हीरू ने कहा।

"हाँ और क्या?" गोपी ने शान से कहा।

"अब की हड़ताल किया था तब शहर छोड़ना पड़ा! और फिर अब हड़ताल का नाम लोगे तो दुनिया ही छोड़नी पड़ेगी। समझे!"

"चुप रह!"

"अच्छा!" हीरू चुप हो गया।

दूसरे दिन वे अपनी आखिरी मंजिल पर थे। आज इनके पास का रहा-सहा खाना भी समाप्त हो चुका था। मुंदरी को रात से ही बुखार

था। देह उसकी अंगारे-सी गर्म थी। शरीर के दर्द से वह टूटी जा रही थी। रह-रहकर वह चीत्कार कर उठती थी। "हाय मेरा भाग्य!"

यह सब गोपी देखता था किन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं। मुंदरी अगर मर भी जाय तो भी उसे कुछ दुःख न होगा।

थोड़ी दूर चलने पर मुंदरी ने हिम्मत छोड़ दी। एक पेड़ का सहारा लेकर वह बैठ गई और कराहने लगी। सचमुच दर्द उसको असह्य हो रहा था। पर गोपी को यह सब अच्छा न लगा। बिगड़कर बोला—"इसी लिए कह रहा था कि अभी मत चल। पीछे चली आना।"

"तो वहाँ अकेले किसके सहारे रहती!" हीरू ने पक्ष लिया।

"तू हमारे बीच में मत बोला कर। मैंने कई बार कह दिया।"

"अच्छा।" हीरू ने कह दिया।

इसके बाद थोड़ी देर सन्नाटा रहा। मुंदरी ने बैठकर बेटी सोना को, जिसे रास्ते भर वह बँदरिया की तरह कलेजे से चिपकाये थी, वहीं भूमि पर लिटा दिया और उसका सिर अपने पाँवों पर रख लिया। लिटाते वक्त वह बोली—"देखो सोना को भी तेज बुखार हो रहा है। साँस भी इसकी ठीक नहीं समझ पड़ती।"

"मर जाने दो नानी को"—खिजलाहट प्रकट करते हुए गोपी ने कहा।

मुंदरी के दिल में यह बात आग-सी छू गई, पर चुप ही रही। तड़पकर रह जाने के सिवा उसके पास था क्या? पेड़ के सहारे लुढ़ककर वह आधी लेट गई। इस समय थकान के कारण उसे कुछ आराम मिला और सोना उसके पाँवों की तकिया लगाये आँख मूंदे पड़ी रही। थोड़ी देर में मुन्दरी को झपकी आ गई। गोपी और हीरू भी बातें करते करते उठे और गाँव में कुछ खाने का बन्दोबस्त करने चले गये।

आधे घण्टे के लगभग वे दोनों लौटे। हीरू के हाथ में एक छोटी

सी पोटली थी। अवश्य ही उसमें कुछ अनाज था। सुन्दरी अभी तक सो रही थी। असहाय सोना पर क्या गुजरा इस आधे घण्टे में यह किसी को नहीं मालूम था। आते ही गोपी ने व्यंग किया—"देख हीरू कैसे मजे में सो रही है यह!"

हीरू आगे बढ़ा और पास जाकर पुकारा—"भउजी! भउजी!!" अँगड़ाई लेकर भउजी उठी।

पर उठने में ज्यो ही उसने अपने पांव सिकोड़े कि सोना का सिर एक ओर को लुढ़क गया। सुन्दरी ने उसे ज्यों ही छुआ कि—हाय सोना! हाय सोना! करके वह चिल्लाने लगी। वह कब की अपनी आँखें मूँदकर संसार से नाता तोड़ चुकी थी।

गोपी और हीरू ने भी सोना को सावधानी से देखा। 'हाय भाग्य!' करके सुन्दरी बिलख पड़ी।

गोपी ने कहा—"अच्छा हुआ मर गई।"

हीरू बोला—"ठीक ही है जाने उसे हम लोगों के साथ क्या-क्या तकलीफें होती।

सुन्दरी दुःख की मारी चीखकर बोली—"हाँ हत्यारों! तुम्हें क्या दुःख, उसके मरने का। वह तो हमारा बेटी थी न, तुम्हारी कौन थी? हाय! यही सुनने को अभी तक मैं जिन्दा हूँ। भयवान् हमें भी क्यों नहीं मार डालता?"

"चुप रहो भउजी! जो उसको बदा था वही हुआ। किसी ने मार तो नहीं डाला।" हीरू ने सान्त्वना देने की कोशिश की!

"चुप रह तू! बेकार टाँय-टाँय कर रहा है मर गई, मर गई! उसे बुला लायेगा क्या? और दुःख कैसा? लड़की थी, कोई लड़का होता तो बात भी थी।" गोपी ने कहा।

"अरे औलाद तो औलाद। चाहे लड़का हो या लड़की..।" हीरू ने कहा

"तू फिर चुप नही होता ! अब अगर बोले तो मारपीट हो जायगी।" गोपी बिगड़ा।

हीरू मन मारकर चुप हो गया। दुःखिया मुन्दरी सोना के नाम पर रोती ही रही। गोपी भी मुँह लटकाये एक ओर को निहारता रहा

फिर थोड़ी देर आसरा देखकर हीरू उठा। सोना को उठाया। थोड़ी दूर आगे जाकर पेड़ों के पीछे उसे गाड़ दिया। इस समय उसे बड़ा दुःख हो रहा था। सोना उससे खूब हिल गई थी। वह भी सोना को प्यार करता था मानो उसी की बेटी हो। हीरू की आँखे इस समय बरस रही थी।

सोना अब मिट्टी हो गई थी इसी लिए उसे मिट्टी मे ही दबा दिया गया।

अँधेरा होने पर सोना का मोह वही पेड़ तले छोड़कर सभी आगे बढ़े। सुबह वे शहर मे अवश्य पहुँच जायँगे। मुन्दरी बीच बीच मे रोने लगती थी। हीरू उसे समझाता और चुप कराने की कोशिश करता। गोपी रह-रहकर खाक हो रहा था।

तभी दरवाजे पर कुछ आहट हुई। गोपी ने करवट ली। सोचा— शायद कोई है। पर काल को छोड़कर वहाँ कौन हो सकता था ! बीमारी की दशा मे उसने करवट ली फिर उलटकर सीधा लेट गया। उसे फिर याद आया।

शहर आये बीस दिन हो गये थे। मजदूरी तो मिली नही थी। धर्मशाले मे वह रह रहा था। धर्मशाले का मैनेजर भी अब इन्हे ठिकाना ठीक करने को परेशान किये था। हीरू कही गया था। वहाँ अकेली

मुन्दरी एक कोने में पड़ी थी। गोपी नशे में चूर था। कोठरी में घुसते ही वह बोला—"कुछ खाने वाने को है ?"

"कुछ खाने को नहीं है जाओ बाजार से कुछ ले आओ। तुम और हीरू खा लेना हमारी तबियत ठीक नहीं है।"

"मुझे हीरू की क्या पड़ी है। ला दे कुछ पैसे मेरे लिये।"

"पैसे ! सुबह ही तो अठन्नी दी थी न !"

"तो क्या अठन्नी अब तक रक्खी है ?"

"तो मेरे पास पैसे नहीं हैं। कहाँ तक दूँ। अठन्नी सबेरे ही तो दी थी। आमदनी का नाम नहीं ? रुपया रोज का खर्च है। जाने कैसे निगोड़े से पाला पड़ा।" मुन्दरी सब एक ही साँस में कह गई।

"क्या कहा ! पैसे नहीं हैं। मैं जानता हूँ तू सब किसके लिए रक्खे हैं।"

"किसके लिये ?" चीखकर मुन्दरी ने पूछा।

"हीरू के लिये। ला दे चुड़ैल नहीं तो....।" कहते-कहते गोपी ने एक लात....।

"यह कलंक ! अत्याचार ! ! —हाय राम !" करके वह रो पड़ी।

"ला, देती है या नहीं !"

"नहीं, नहीं है मेरे पास कुछ।" रोते हुए उसने कहा।

"ले फिर हरामजादी !" कहकर उसने फिर एक लात जमाई।

अब की मुन्दरी बिलबिला उठी। रोते-रोते उसने अपने आँचल में बँधी उस गिट्ठी को दाँत से खोलते हुए कहा—"मार ले हत्यारे ! भगवान् तुझसे बदला लेगा।"

'ला जल्दी चुड़ैल !"

मुन्दरी ने एक चवन्नी गोपी के हाथ में रक्खी।

"और ला !"

"अब जो दो-चार आने हैं क्या वह भी न रहने दोगे ?"

"मैं कहता हूँ दे।" कहकर गोपी ने हाथ से मुन्दरी के सिर पर जोर से मारा और उसके आँचल में बँधी सभी इकन्नी दुअन्नी उसने ले ली और उलटे पांव वापस बहर निकल गया।

मुन्दरी अपने भाग्य पर जोर-जोर से रोने लगी। गोपी को जाते देख मुन्दरी उठी पर पाँव उसके लड़खड़ा गये और वह धड़ाम से बेहोश होकर धृथ्वी पर गिर पड़ी।

फिर कब तक वह इस मूर्छा की दशा में पड़ी रही इसका पता नहीं। हाँ, बहुत रात गये हीरू आया। दिन भर की थकान से उसका भी शरीर चूर-चूर हो रहा था। बड़ी मुश्किल के बाद आज उसे नौकरी मिल गई थी। इस खुशखबरी को वह शीघ्र ही अपनी भउजी और गोपी को सुना देना चाहता था। अधखुले दरवाजे को पूरा खोलकर वह भीतर आया। कोठरी भर में अँधेरा मँडरा रहा था। पहुँचते ही उसने पुकारा—

"भउजी !" पर भौजी न बोली।

"भउजी, भउजी ! !"

"हाँ" बड़े कष्ट के स्वर में वह बोली।

"क्या तबियत अधिक खराब है भउजी," यह हीरू का स्वर था। मुन्दरी कांप उठी।

पागल-सी वह जोर से बोली—"तुम यहाँ से चले जाओ"

"क्यों, क्या बात है।" हीरू को यह व्यवहार नवीन ही लगा।

"बस मैं कहती...हूँ...तुम चले..।"इसके आगे उसका स्वर खो गया।

"भउजी !" हीरू को शक हुआ, उसने पुकारा पर भउजी अब बोलने में असमर्थ थी।

जेब से दियासलाई निकालकर उसने जलाकर देखा। उसकी वह करुणामयी सुन्दरी भउजी अब अपनी आँखें उलट चुकी थी, हाथ-पाँव ठण्डे होकर कड़े हो चुके थे। बेवसी के कारण मुँह खुला था। मृत्यु का यह नग्न रूप देखकर हीरू हिल गया। दियासलाई की सींक राख हो चुकी थी। अँधेरे में ही टटोलकर उसने देखा—भउजी की नाड़ी थम चुकी थी।

एक झटके से वह गोपी के ढूँढ़ने के लिए बाहर निकला। गोपी कोठरी के द्वार पर ही मिला। हीरू को भीतर से आते देख गोपी एकदम से चिल्ला उठा --"तू भीतर अंधेरे में क्या करता था रे! नीच, रह आज तुझे मैं.. ..।"

बीच ही में क्रोध से भरकर हीरू ने उसकी गर्दन में हाथ लगाकर उसे भीतर ढकेल दिया और कहा—"चुप रह अभागे!"

हीरू की आँखों से टप्-टप् करके एक साथ कई बूँद आँसू गिरकर उस कोठरी की ड्योढ़ी को भिंगो गये।"

तभी एक झटका लगा और गोपी ने अपने रूखे गालों पर बहते आँसू को पोछने का असफल प्रयत्न किया पर उसके हाथ खाट पर से उठ न सके।

सब बातें वह अब भूल गया। समझ में आ गया कि डाक्टर की बात अब सच होने वाली है।

बड़प्पन

बहुत थोड़ा वेतन पाने वाला वह केवल एक क्लर्क है, परन्तु बड़े साहब से लेकर सामने टाइप की मशीन पर प्रति दिन आठ घंटे अपनी पतली पतली उँगलियाँ पटकने वाली यह मेम, मिस केंट और दरवाजे के पीछे सदा साहब की घंटी की ओर कान लगाए बैठा खीझू चपरासी तक, सभी यही समझते हैं कि सारे कामों की जिम्मेदारी उसी पर है।

इस बिजलीघर का वह एक साधारण सा इंस्पेक्टर है। बिजलीघर से ही मिली एक साइकिल पर वह पिछले चार साल से-जाड़ा, गरमी, बरसात, सभी ऋतुओं, सभी दिनों में बिजली की शिकायतों की जाँच करता घूमा करता है। इसी वर्ष न जाने क्यों बड़े साहब ने कृपा करके उस साइकिल से उसका पिंड छुड़ा दिया है और एक पद की तरक्की देकर उसकी ड्यूटी दफ़्तर में ही लगा दी है। लेकिन है वह शिकायतें सुनने वाला बाबू ही। पहले वह साइकिल पर सवार शिकायती पत्रों की फाइल लिए घर घर जाँच करता घूमता था, परन्तु अब विभाग का हेड बनकर

डटकर अपनी मेज पर काम करता है और अपने सहयोगियों को जाँच के लिये भेजता है। टेलीफोन का चोगा लिये बड़े-बड़े दफ्तरों और बड़े आदमियों के यहाँ फेल हुई बिजली की बातें सुनकर मिस्त्री भेजने का प्रबन्ध करता है।

अभी अभी किसी पत्र को गौर से पढकर उस पर क्या कार्रवाही की जाय यही वह सोच रहा था कि मिस कैंट के टाइपराइटर की खामोसी से उसका ध्यान टूट गया। दफ्तर के बाबू का भी क्या जीवन है! वहाँ की चहल-पहल और शोर का वह इतना अभ्यस्त हो जाता है कि शोर रहे तब तो मन लगता है, नहीं तो कुछ खोया सा, सूना सा लगने लगता है। सो जब मिस कैंट की मशीन चुप हो गई तो लगा कि कार्यालय का एक अंग ही शिथिल हो गया है।

सिर उठाकर उसने उसकी ओर देखा, कुछ कहा तो नहीं पर आँखें मानो पूछ ही तो बैठीं "क्यों, क्या बात है?"

"क्यो मिस्टर वर्मा, टी लोगे, टी?"

वर्मा इनकार न कर सका। मुँह से हाँ भी न कह सका पर सिर ने एक बार हिलकर स्वीकृति की सूचना दे दी।

मिस कैंट ने झट घंटी टुनटुना दी और खीभू आ गया। उससे आज्ञा के भाव में 'दो कप चा' कहकर मिस कैंट वर्मा की ओर देखने लगी। वर्मा फिर पढ़ने लगा था। मिस कैंट सोचने लगी, यह भी कैसा आदमी है। सारे दफ्तर का भार अपने ऊपर ओढ़ लेने को जैसे सदा उत्सुक रहता है। इसीलिये तो मैनेजर मानता भी खूब है अगर उसे छुट्टी मिले तो शायद वह मेरी भी दो-तीन चिट्ठियाँ टाइप करने में न चूके। कहते हैं काम प्यारा होता है, चाम नहीं। सो इसने इसे सच कर दिखाया है।

और वर्मा ने जो सिर झुकाया तो इस बार चिट्ठी पर आँखें गड़ाकर

भी वह कुछ न पढ़ सका। टाइप की हुई चिट्ठी के गोल गोल अक्षर जैसे उसकी आँखों में समाकर उलझ से गये। उसकी प्रत्येक लाइन उसे कागज से उखड़ी सी लगी। उसे लगा कि उसका जीवन भी तो इसी तरह अस्तव्यस्त और उखड़ा रहा है। उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर, गोरा-चिट्टा रंग, रूखे-बिखरे लम्बे बाल। आँखें सुन्दर, अक्षरों की लाइनों पर जमी थीं, पर ध्यान न जाने कहाँ क्या पढ़ रहा था ऊबड़-खाबड़ जीवन की अव्यवस्थित घटनाएँ। अपने वर्तमान से उसे सन्तोष नहीं। परन्तु जो है उसे वह असत्य भी नहीं ठहरा पाता।

तभी मिस केंट ने फीकी हँसी के बीच कहा—"कहो मि० वर्मा, कहाँ हो? चाय ठण्ढी हो रही है।"

चौंककर उसने देखा, टेबिल पर धरा प्याला भी अपनी भाफ उड़ाकर ठंडा हो रहा था। उसने प्याला अपनी ओर खींच लिया। मिस केंट न जाने क्यों जब खुद थक जाती है तो उसे ही तंग करती है। फिर बिना मतलब कोई न कोई बहाना ढूँढ़ कर हँसती रहती है। उसकी ओर देखकर, अधरों पर एक सूखी हँसी हँसकर वह चाय पीने लगा।

थोड़ी देर बाद अपनी चाय समाप्तकर मिस केंट उठी और आकर वर्मा की मेज से लगकर खड़ी हो गई। फिर पूछा—"क्यों वर्मा, आज कुछ डिस्टर्बड् हो?"

"नहीं तो!" वैसे ही उसने उत्तर दे दिया।

"तुम्हारे यहाँ से कोई लेटर आया? तुम कहते थे न कि तुम किसी अच्छी खबर का इन्तजार कर रहे हो।"

"हाँ, मेरा बाप बीमार है।" कडुवाहट में भरकर उसने उत्तर दे दिया।

"यह तो तुम उसी दिन कह रहे थे।"

"हाँ, आगे कुछ नहीं है अभी।" कहकर वह अपने अतीत जीवन में उलझ गया।

जीवन में उसे जो कहीं सफलता नहीं मिली उसका कारण है उसके पिता द्वारा मिला तिरस्कार! इसी से तो वह अपना घर छोड़कर यहाँ चला आया था और तब से इसी बिजलीघर में काम कर रहा है। उसे अक्सर लगता था कि इस प्रकार के अभावपूर्ण जीवन में रहने से अच्छा है कि वह लौट जाय और पिता से क्षमा माँग ले। परन्तु यह सोचते ही उसे अपनी स्वर्गीया माँ का चेहरा याद आ जाता। किस प्रकार वह बीमार पड़ी थी, किस प्रकार पिता ने उसका हर तरह इलाज किया परन्तु अच्छे लक्षण न देख शहर के अस्पताल में लाना पड़ा। अस्पताल आते ही जैसे उसे माँ से अलग कर दिया गया। जिस खाट पर माँ पड़ी रहती थी उसके निकट उसे फटकने भी नहीं दिया जाता था। अपनी माँ को वह पराए की तरह दूर से ही देख देख कर रह जाता था। पर उसे क्या मालूम था कि उसकी माँ यहाँ अच्छी होने नहीं आई। मृत्यु के समय भी उसे माँ से दूर ही रखा गया। पर उसे वह घटना याद है जब माँ ने कहा था "मेरे बेटे को तकलीफ न हो।" और पिता ने कहा था—"तुम विश्वास रखो, मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँगा।"

पिता की आँखों में उसने एक दृढ़ निश्चय की चमक देखी थी। उस समय चाहे वह इसका अर्थ न समझ पाया हो पर आज वह उसे पूरी तरह समझ रहा है।

हर वस्तु के खड़े होने का एक सहारा होता है, एक दीवाल होती

है वह दीवाल जितनी मजबूत होगी, उतनी ही दृढ़ता आएगी। परन्तु यदि दीवाल ही कमजोर हो तो सहारा कब तक बना रह पाएगा।

एक दिन उसने सुना कि पिता फिर ब्याह करना चाहते हैं। उसने हिम्मत करके पूछा तो डाँटकर पिता ने कहा था—"तुझे इससे क्या मतलब ? मैं अपने बारे में जो समझूँगा, करूँगा।"

विवाह की बात सच निकलते ही शादी की तैयारी के बीच ही वह भाग आया और तब से।इसी बिजली के फेल होने के चक्कर में जीवन काट रहा है।

तभी टेलीफोन की घन्टी बजी। उसने चोंगा उठा लिया पर कुछ सुनाई न पड़ा। दो मिनट तक वह 'हलो, हलो' करता रहा पर कुछ उत्तर न मिला। अन्त में उसने चोंगा रख दिया। तभी घड़ी में पाँच बजे। आफिस समाप्त हो गया। वह उठा, कुर्सी पर पड़े कोट को कन्धे पर डाल लिया और चल पड़ा। सीढ़ी उतर चुका तो पीछे से आती मिस कैंट ने पुकारकर कहा—"वर्मा, मैं भी चलती हूँ। पार्क तक साथ रहेगा।"

दोनों साथ साथ चलने लगे। बिजली घर के बाहर बाबुओं और मजदूरों का अजीब कोलाहल हो रहा था। वे जल्दी ही उससे दूर हो सड़क के किनारे अपने घर की ओर चल पड़े। जहाँ एक बँगले के एक कमरे में वर्मा रहता है, वहीं आगे के पार्क के बाद मिस कैंट भी अपनी बूढ़ी माँ के साथ रहती है—वर्मा से काफी घुली-मिली। इस अनजाने शहर में इस तरुणी के सामीप्य से उसे भी कभी कभी बड़ी खुशी होती है। अक्सर खाना खा चुकने के बाद जब वह शाम को मिल जाती तो दोनों वहीं पार्क में घन्टों बैठे न जाने कहाँ कहाँ की बातें किया करते। सुख-दुख की भी बातें होतीं। एक दिन वर्मा ने इसी भावना में कह भी दिया था कि वह अपनी जिद के कारण ही यहाँ पड़ा था। यों तो अपने

गाँव का आधे का मालिक था। परन्तु जब तक उसके पिता हैं, वह वहाँ जाना नहीं चाहता। वे आजकल बहुत बीमार हैं। अगर वे मर गए तो बाद में उसे जाना ही पड़ेगा।

"नहीं नहीं, ऐसा मत कहो। तुम्हें जाना न होगा। नहीं तो...।" मिस केंट इतना कहकर न जाने क्यों रुक गई थी।

फिर वर्मा भी कुछ नहीं कह सका था। तभी उस गली की मोड़ पर एक ताँगे के अचानक आ जाने से जब उसने केंट का हाथ पकड़कर खींच लिया था तो न जाने क्यों उसके शरीर में एक बिजली सी दौड़ गई। इसका उसे अनुभव था। बिजली का करंट भी इसी तरह शरीर को झकझोर देता है। सड़क की बिजली की रोशनी में उसने जब केंट को देखा तो उसका भी चेहरा लाल था और न जाने क्यों माथे पर पसीना हो आया था—इससे उसका सुन्दर मुँह जैसे खिलकर उसे नवीन सा लगने लगा था। फिर उस दिन रास्ते भर वह उससे बचता रहा। कहीं फिर न बिजली छू जाय!

आज चलते चलते मिस केंट ने कहा—"क्यों वर्मा, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते?"

"शादी? अपना तो चलता नहीं, शादी किस बूते पर करूँ।" कहने को वह कह तो गया पर पीछे ऐसा लगा मानो केंट के इस वाक्य का कुछ अपना अलग महत्त्व है। लेकिन कुछ समझकर भी इस बात को आगे बढ़ाने की उसकी हिम्मत न हुई।

उस शाम पार्क में जब दोनों बैठे थे, तभी मिस केंट ने फिर कहा—"मेरी माँ की तबीअत ठीक नहीं चलती।"

"क्यों?"

"उसका हृदय-कष्ट बढ़ गया है।"

"तो किसी डाक्टर को दिखाएँ?"

"वह अब कितना चलेगी, बहुत बूढ़ी है।"

वर्मा को सुनकर एक झटका सा लगा। वह समझता था कि वह अकेला ही अपने पिता की मृत्यु की सूचना का इन्तजार कर रहा है, पर यह कैंट भी अपनी माँ की मृत्यु की कामना करती है। उसने चौंककर उसे देखा। आज वह फिर उसी तरह उसे देख रही थी, एकटक, अपलक ! वर्मा को लगा कि इस बार शायद बिना छुए ही बिजली का करेंट लग जायगा।

उस दिन शीत कुछ अधिक थी। शायद इसी कारण इतनी देर बैठने से उसे कुछ जाड़ा सा लगा। वह चुपचाप उठा और अपने कमरे में आकर रजाई ओढ़कर पड़ गया ! फिर कब उसे नींद आई, पता नहीं।

सबेरे आँख खुली तो पाया कि बुखार की तेजी से उसका शरीर जल रहा है।

तीन दिन यों ही रहा। चौथे दिन मिस कैंट ने आफिस से छुट्टी ले ली। छुट्टी ली तो एक साथिन टाइपिस्ट ने व्यंग्य किया—"वर्मा को नर्स करोगी, क्या उससे शादी करके उसकी जमींदारी की मालकिन होना चाहती हो ?"

"चुप !" डाँट दिया कैंट ने।

पर सच ही तो है। वर्मा भी तो कितना मना करता रहा पर वह न मानी और उसकी सेवा में लगी ही रही। जब वर्मा ने कहा कि अस्पताल चला जाऊँ, तो उसने कहा कि वहाँ भला कौन तुम्हारी देख-रेख करेगा—यहीं रहो।

वर्मा कुछ समझ न पा रहा था—कैंट क्यों उसको इतनी परवाह करती है। उसमें कितना अपनत्व है। जब बुखार कम होता तो वह देखता, कैंट को निहारता, ओह ! यह सब क्यो करती है।

कैंट वर्मा की मनोदशा समझती थी। वह केवल मुसकरा देती।

उसके ओंठ इस प्रकार हिलकर शान्त हो जाते जैसे वह पूछ रही हो—'क्या मनुष्य मनुष्य के साथ केवल स्वार्थ के लिए ही कुछ करता है।'

वर्मा की तबीअत सुधर नहीं रही थी। इधर उसे 'फिट' से आने लगे हैं। रहता रहता है, वह बड़बड़ाने लगता है। अपने ऊपर का कपड़ा फेंक देता है। उठकर भागने की कोशिश करता है। कैंट चिन्ता में पीली हुई जा रही थी। वह शहर के अच्छे डाक्टर का इलाज करा रही थी। वर्मा की स्थिति काफी गड़बड़ हो गई थी, कुछ सुधार नहीं था। उसके पास का सारा पैसा डाक्टर और दवा में खर्च हो चुका था। उसे इतना होश कहाँ था कि वह पैसे-रुपए की चिन्ता कर पाता। अब तो सारा खर्च कैंट की तनख्वाह पर चल रहा था।

समय की बात थी। इतने बड़े गाँव के जमींदार का बेटा, इकलौता बेटा, यों पराए जन के आसरे में बीमार पड़ा था। कभी कभी होश होने पर वर्मा सोचता—पता नहीं आफिस का काम कैसे चलता होगा। कैंट भी नहीं जाती है। बिजली के फेल होने की शिकायतें तो आती ही होंगी।

पर कौन समझावे उसे कि किसी के न होने से संसार का काम नहीं रुकता; इस संसार में किसी एक इकाई का कोई अस्तित्व नहीं। उसका जीवन भी तो बिजली का एक लट्टू है, जो न जाने कब फेल हो जाय!

शाम को डाक्टर के यहाँ से लौटकर कैंट ने देखा कि उसकी हालत अच्छी नहीं। विचारों की उधेड़-बुन में वह कुछ भी समझ न पाई। उसे डाक्टर भट्टाचार्य की याद आई। सुना है वह सब से महँगा और कुशल डाक्टर है। सोचा एक बार उन्हें ही बुलवाया जाय।

वह इस डाक्टर को लेकर आई तो उसका जी धक् धक् कर रहा था। डाक्टर वर्मा की परीक्षा कर रहा था और वह सिरहाने खड़ी थी, सहमी सी। जब डाक्टर बाहर आए तो कैंट ने पूछा—"अच्छे तो हो जायँगे डाक्टर साहब?"

"हाँ, इन्हें सन्निपात हो गया है। दशा बिगड़ चुकी है। परन्तु सुई लगवाओ। क्या लगवा सकोगी ?"

"अवश्य !"

"छै रुपया प्रति सुई दाम पड़ेगा। रात भर में छै सुई लगेंगी।"

"आप नाम लिख दीजिए, मैं बाजार से ले आऊँ।"

डाक्टर ने सुई का नाम लिख दिया और दो घन्टे बाद फिर आने को कहा। कैंट सुई खरीद लाई। जब बाजार से लौटी तो उसके गले में सोने का लाकेट नहीं था, बस।

दो सुइयाँ लगने के बाद वह कुछ स्वस्थ हुआ। उसने कहा—"तुम बहुत कष्ट उठा रही हो।"

कैंट की आँखें गीली हो गईं। मानो कह रही हों—"तुम्हारे लिए कष्ट उठाना भी अच्छा लगता है।"

"अरे तुम्हारा लाकेट कहाँ है ?" चौंककर वर्मा ने पूछा।

"घर में रख आई हूँ।" वैसे ही कैंट ने कह दिया पर वर्मा को विश्वास न हुआ।

परन्तु बात यहीं रुक गई।

क्षण भर की चुप्पी के बाद एकाएक अपने निर्बल हाथ बढ़ाकर वर्मा ने कैंट को अपनी ओर खींचकर कहा—"मेरे एकाकी जीवन में तुम बिजली बन गई हो। कहीं फेल न हो जाना। यहाँ तुमने जितना प्रेम मुझे दिया वह अँधेरे घर के प्रकाश से भी अधिक है। यदि मेरे भी दिन फिरे तो मैं अब...अवश्य...।" फिर वह रुक गया।

"क्या...क्या अवश्य ?" कैंट ने पूछा।

"अच्छा होकर मैं शादी कर लूँगा—तुमसे !" कहकर वर्मा ने कैंट को अपने बदन पर गिरा लिया। अपने निर्बल हाथों द्वारा शक्ति भर दबाया और जैसे किसी स्वप्न में डूब गया।

अच्छा होकर अब वह बिजलीघर छोड़ देगा। अपनी जायदाद का आधा हिस्सा अवश्य ले लेगा और केंट से शादी करके उसे वहाँ लिवा जायगा। वहाँ एक छोटा सा बँगला बनवाएगा—वहाँ वह बिजलीघर का बाबू नहीं रहेगा, वह भी टाइपिस्ट नहीं रहेगी। वे रहेंगे राजा और रानी बनकर!

और केंट सोच रही थी—वह अच्छा हो जाय तो वह दावत करेगी—खुशियाँ मनाएगी।

बुझने के पूर्व दीपक की लपक एक बार तेज हो जाती है। वर्मा का यह क्षणिक स्वास्थ्य-लाभ भी वही तेज लौ थी। घंटे भर बाद फिर हालत गड़बड़ा गई और जब खिड़की की राह आसमान का दिया, चाँदनी सितारों से सजी काली ओढ़नी ओढ़े कमरे में झाँक रही थी, तभी एकाएक चौंककर वर्मा पुकार उठा—"केंट! डियर!!"

हाथ का बर्तन छूटकर गिर पड़ा और दौड़कर केंट कमरे में आई। देखा—अपने शिथिल हाथ उठाए वर्मा उसकी राह देख रहा था। आकर वह अपने आप उसकी बाहों में समा गई।

दोनों को ही लगा कि बिजली चमककर फेल हो गई। शरीर झन्ना उठा। वर्मा के हाथ झूल गए। केंट के होश उड़ गए। वह चीखी और उसके नयन वेदना से भर गए।

वर्मा की पथराई आँखें एकटक, अपलक, बर्फ सी शीतल, दूधिया चाँदनी को देख रही थीं—दूर तक। चेहरा उसका पहले से चमकदार हो गया था पर शरीर का रक्त पानी बन चुका था, सारे सपने मन के अँधेरे में गायब हो गए।

दूसरे दिन जब वर्मा की लाश नदी की ओर जा चुकी थी और कैंट काली साड़ी पहने, उदास, मां के सिरहाने बैठी बिलख रही थी तभी वर्मा के नाम एक चिट्ठी पोस्टमैन दे गया।

कैंट ने अपना अधिकार समझकर पढ़ डाला – उसकी सौतेली विधवा माँ ने लिखा था कि अब उसके बाप नहीं रहे। वही घर का अकेला मालिक ठहरा, आकर उसे अपना काम-काज देखना चाहिए।

आँचल से आँसू पोंछकर कैंट ने सोचा—काश ! यह पत्र कल ही मिल गया होता। वर्मा अपने बड़प्पन का प्रमाण अपनी आँखों से तो देख लेता !

मालकिन

गाड़ी खड़ी हो गई; एक झटका लगा। चौंक कर उसने अपना सिर खिड़की के बाहर निकाला। संध्या के धूमिल अन्धकार में स्टेशन की छोटी सी इमारत भूत सी खड़ी थी। आजकल प्लेटफार्म की लालटेनें नहीं जलतीं। रात हो तो स्टेशन को पहचानना भी मुश्किल है। और फिर वह तो आज पूरे बीस साल के बाद आ रहा है। इतने दिनों में दुनिया जाने कितनी बदल गई है। उसने सोचा था कि शायद वह स्टेशन पहचान न सकेगा। परन्तु इससे क्या होता है; उसने अब पढ़ना लिखना जो सीख लिया है। स्टेशन का नाम वह पढ़ लेगा, पर जब गाड़ी खड़ी हुई तो वह जैसे सब कुछ भूल गया। शाम के धुंधलके में खड़े पेड़, तार के खम्मे, स्टेशन की दीवारें, सभी उसे चिर-परिचित सी प्रतीत हुईं। एक निश्वास लेकर वह उठ खड़ा हुआ, अपना सामान उठाया और दरवाजे की ओर बढ़ा। गाड़ी ने सीटी दी, पर उसने शायद उसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता न समझी। ट्रेन डोल रही थी

और वह उतर रहा था। जैसे उसे इस बात का ज्ञान ही न हो कि ट्रेन चल रही है। पैर धरती से छू गए तो लगा वह गिर पड़ेगा, परन्तु दूसरे ही क्षण वह सम्हल गया। सामान रख कर अन्धकार को चीर कर भागती जा रही ट्रेन को देखता रहा।

गाड़ी चली गई तो उसने एक बार चारों ओर देखा। झुककर सामान उठा उसने अपने कंधे पर लाद लिया और स्टेशन के फाटक की ओर चल पड़ा। फाटक के सामने हाथ में एक छोटी सी लालटेन लिए स्टेशन मास्टर टिकट ले रहे थे। अपना टिकट जेब से निकाल कर उसने बढ़ा दिया और जब बाबू टिकट एक हाथ में लेकर, दूसरे हाथ की लालटेन उठाकर टिकट की परीक्षा करने लगा तो वह रुक कर काला कोट पहने खड़े इस आदमी को ध्यान से देखने लगा, जैसे उसे यह पहचान रहा हो।

तभी पीछे वाले मुसाफिर ने कहा—"आगे बढ़ भाई, आगे।"

रास्ता वह भला कैसे रोक लेता! सो वह आगे बढ़ गया। दूसरा व्यक्ति अपना टिकट दे रहा था और वह घूम कर टिकट लेने वाले को घूर रहा था। परन्तु इस नए स्टेशन मास्टर को वह पहचान कैसे सकता है। बीस वर्ष पहले वह ऐसी ही संध्या की बेला में इस स्टेशन पर पहुचा था। उस समय उसके पास एक पैसा भी न था। जब सब टिकट लेने लगे थे, तब वह पीपल के उस पेड़ के नीचे खड़ा था; उसके मस्तिष्क में विचारों का तूफान उठ रहा था। उसे वह बार बार अपने में समेट रखने का प्रयत्न भी कर रहा था।

पीपल का वह पेड़ अब भी है। परन्तु तब वह कितना छोटा था और अब कितना विशाल! कितना परिवर्तन हो गया है, परन्तु वह आज भी उसी प्रकार है। पीपल के नीचे किसी ने पक्का चबूतरा बनवा दिया है। महावीर की प्रस्तरमूर्ति भी विद्यमान है। तब तो यहाँ कुछ भी नहीं

था। और उसके पास बना वह कुआं भी तो आज तक उसी प्रकार है, परन्तु उसके आस पास की भूमि भी कितना बदल गई है।

उसकी आँखों के सामने गाँव का चित्र उपस्थित हो गया। कहीं जैसे कुछ भी न बदला हो। बीस वर्ष की अवधि कोई बहुत थोड़े होती है। परन्तु अब गाँव में तो न जाने कितने नए लोग हो गए होंगे। कितने छोटे बच्चे अब बड़े हो गए होंगे। कितने बूढ़े मर गए होंगे, पता नहीं उसे गांव में कोई पहचानेगा भी या नहीं।

स्टेशन से उसका गाँव कोई तीन मील पड़ता था। उसी समय उसे वहां पहुँचना होगा। वह और कहीं नहीं रुकेगा। गांव जाने वाली पुरानी पगडण्डी तो उसे याद है, परन्तु बीस साल हुए, पता नहीं वह पगडण्डी अब है या नहीं या कोई और रास्ता बन गया हो।

सोचता हुआ वह धीरे धीरे आगे बढ़ रहा था। पीछे से आता हुआ एक राहगीर उसके पास आ गया। उसने आंखें घुमाकर उसकी ओर देखा। कंधे पर के बोझ को तनिक हिला खिसका कर जैसें हलका किया फिर पूछा—"कहो भाई कहां जाओगे ?"

"किशुनपुर।" उत्तर मिला। वह राहगीर भी शायद रास्ता काटने के किए किसी साथी की खोज में था। बातचीत का सिलसिला जारी करने को राहगीर ने पूछा—"और तुम।"

उसके कपड़े आदि को देख शायद राहगीर ने उसे अजीब सा समझा होगा। यह व्यक्ति यहाँ का रहने वाला नहीं हो सकता। शहर वालों की भी ऐसी पोशाक तो उसने नहीं देखी। अवश्य ही कहीं कलकत्ता या बम्बई से आया होगा। सो राहगीर के हृदय में उसके प्रति एक विशेष मोह व दिलचस्पी पैदा होने लगी थी।

वह जैसे भूल सा गया हो कि उसे कहाँ जाना है। सो तनिक सोच

उसने उत्तर दिया—'बड़े गाँव जाऊँगा, चलो तुम अच्छे मिल गए भाई साथ ही रहेगा।"

"हाँ, नहीं अकेले तो रास्ता काटना मुश्किल हो जाता है।"

"हाँ भैया और मैं तो बहुत दिन बाद यहाँ आया हूँ, रास्ता भी मुझे अब ठीक याद नहीं रह गया।"

"कहाँ से आ रहे हो।" प्रथम परिचय में ही उसके संबंध में सब कुछ जान लेने को वह जैसे उत्सुक हो उठा।

"बहुत दूर से। आज पांच दिन बाद गाड़ी से नीचे धरती पर पैर रखा है। मदरास के आगे से आ रहा हूँ। और फिर गाड़ी का सफर ठहरा ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह सारा शरीर टूट टूट कर चूर चूर हो गया हो।"

"हाँ", साथी ने कहा शायद उसे और कुछ कहने को मिल न रहा हो।

क्षण भर शान्ति रही। वह दूर तक फैले खेतों को निहारता रहा जिन पर संध्या का काला अन्धकार छा गया था, जैसे किसी ने उन्हें कब्र में दफना दिया हो; सो आँखें फाड़ फाड़कर देखने का प्रयत्न करने पर भी उसे कुछ भी न दिखाई पड़ा। हाँ, जब हवा का शीतल झोका खेतों को हिला-झकझोर उसे छू देता, तो सरसों के फूलों की सुरभि उसके नासापुटों में प्रवेश कर उठती और पगडंडी के किनारे खड़े गेहूँ के पौधे हर हर कर कांप उठते।

साथी ने शान्ति भंग कर दी। पूछा—"बड़े गाँव में किसके यहाँ जाना है?" प्रश्न सुन उसे हँसी आ गई। जैसे कहीं जाने के लिए एक ठिकाना होना जरूरी है। पर उसका तो कोई ठिकाना है नहीं। बीस बरस तक वह इसी तरह बिना किसी ठिकाने के घूमता रहा है। आज गाँव में पहुँच वह किसके द्वार पर खड़ा होगा, यह तो उसने पहले

सोचा नहीं था और सोचता भी क्यों ? जब इतने दिन बिना आश्रय के वह जीवन बिता आया है तो फिर आज उसे यह प्रश्न क्यों उठा जो कुछ सोचने को बाध्य कर रहा है।

प्रश्न पूछा गया था इसलिए उत्तर देना भी था ही, उसने कहा— "मेरा वहीं घर है।"

"घर है ?" आश्चर्य के साथ प्रश्न हुआ !

"घर है।" कहना उसे भी जाने कैसा लगा था; जैसे किसी ने सटाक् से उसकी पीठ पर चाबुक जड़ दी हो। विचारों की श्रृंखला टूट गई। उसका घर अब वहाँ कहाँ है ! पीढ़ियों से उसका यहाँ घर रहा है। इस घर में ही उसके परिवार का इतिहास एक एक ईंट पर लिखा है, पर अब तक उसका कहीं घर नहीं है।

साथी की जिज्ञासा को दूर करने के लिए उसने कहा—"मेरा नाम भैरोंनाथ; मैं 'पक्की बखरी' के जगन्नाथ का लड़का हूँ।"

बात बड़ी कठिनता से वह कह पाया पर जब कह चुका तो उसे लगा जैसे उसकी आत्मा को शान्ति मिल गई हो। कलेजे पर कुछ भारी सा जो लग रहा था वह उतर गया।

साथी उसकी बात सुनकर जैसे आकाश से गिर पड़ा हो। चलते चलते उसके पैर रुक गए और वह भैरोंनाथ की ओर देखने लगा। 'पक्की बखरी वाले जगन्नाथ का लड़का !', जैसे यह बात उसके मस्तिष्क में धंस ही न रही हो। तो यह भैरोंनाथ है। जाने कब वह गांव से चला गया था। कभी उसने उसका नाम किसी के मुँह से नहीं सुना। 'पक्की बखरी' का मालिक अब कोई दूसरा है। पर आज भी सभी उसे 'जगन्नाथ की बखरी' ही कहते हैं। उसके बनवाने वाले ने इन पक्की दीवार के साथ जैसे अपना भी नाम अमर कर दिया है कि वर्षों से

दूसरे की हो कर भी वह उस नाम का मोह जैसे आज तक न त्याग सकी।

भैरों सोचता रहा और उसका साथी भी युगों के अन्धकार में सोए अतीत के गंदे गर्द भरे चित्र को जैसे झाड़पोंछ कर साफ करने का प्रयत्न कर रहा था। उसकी नीरवता से वातावरण की नीरवता और अधिक होकर भयानक हो उठी थी। वायु की सनसनाहट के साथ जैसे तरल हाहाकार बह रहा हो। साथी के रुकने का भास भैरों को नहीं हुआ। वह अपनी पूर्व गति से चलता रहा। और उसका यह नया साथी उसे खड़ा निहार रहा था। कुछ खोया सा, कुछ भूला सा।

सहसा जो ध्यान आया तो देखा भैरों कई पग आगे बढ़ रहा था, जल्दी जल्दी पग उठा वह भी उसके साथ हो लिया। यह निस्तब्धता जैसे उसे खाए जा रही थी। साथी ने कहा—"तो भैया यह तुम हो!"

और उससे कुछ कहा नहीं गया। भैरों उसी प्रकार शान्त रहा फिर जैसे उसे अपनी शान्ति अखरने लगी, लगा अपने मन की बात वह कहेगा अवश्य! बिना कहे जैसे उसका हृदय फटा जा रहा था सो कहा—"हाँ आज बीस वर्षों बाद आ रहा हूँ। मैंने एक एक दिन गिन कर यह बीस साल पूरे किए हैं।"

"घर का बिछोह भैया सबसे अधिक 'बिथा' देता है।" साथी ने उसके घाव को सहलाया।

"बीस वर्षों से बराबर मेरा एक ही लक्ष्य रहा है, शायद वही लक्ष्य मेरे शरीर में आत्मा बनकर बस गया था; अन्यथा इतना झेल कर कोई जीवित रह भी सकता है, इसका विश्वास नहीं होता। बाप दादों की बखरी मेरे इन्हीं हाथों बिक गई है। उसे मुझे फिर प्राप्त करना होगा।

मेरे परिवार के सभी व्यक्ति उसी में जनमें और उसी में मरे। मैं भी उसी में मरूँगा। और ठाठ भी दूसरों का नहीं, मेरा होगा...।

जाने कितनी बातें उसके हृदय में उभर कर बाहर आने को हो रही थीं। कण्ठ में जैसे उनकी भीड़ लग गई सो इच्छा रख कर भी वह चुप रहने को बाध्य हो गया। आँखों में आँसू भर आए। विस्मृति के जो बादल सघन घन बन छाए थे, वे पिघल गए, पलकों से छलक पड़े।

साथी को जैसे कुछ अधिक पूँछने का साहस न हो रहा था। वह स्तब्ध यन्त्र सा अन्धकार में पगडण्डी पर चलता रहा। उसके जूते कभी चर्र-चर्र कर उठते; अन्यथा चारों ओर घोर शान्ति का साम्राज्य था। वह सोच रहा था, यही भैरों है। पर कितना अन्तर समय ला देता है? भला इसे अब कौन पहचान सकता है। अपने शैशव में उसने इसके बारे में सुना था। फिर सुना, अपने बाप-दादों की बखरी बेच वह जाने कहाँ चला गया। कहते हैं कि पिता का सारा धन उसने जुए में गंवा दिया था और जब बहुत कर्ज हो गया तो यह बखरी बेचकर भाग गया। जगन्नाथ का वंश डूब गया। पर नहीं, अभी यह तो भैरों जीवित है। सपूत हो चाहे कपूत, पर अपने वंश का नाम तो कायम रखे है।

अब दोनों दोराहे पर आ गए। यहीं से उनका मार्ग अलग होता था। साथी ने कहा—"भैया भैरोंनाथ, मैं तो अब इधर से जाऊँगा। राह न मालूम हो तो गाँव तक पहुँचा दूँ।"

अपने विचारों में खोया सा वह चौंक उठा। क्षण भर चारों ओर देखा। पगडण्डी पूर्णतया परिचित सी ही मालूम हुई। सो बोला, "नहीं भैया, इतनी देर का साथ रहा, यही क्या कम था? अब मैं चला जाऊँगा। जै राम!"

"जै राम, भाई !" साथी ने कहा और लाठी को धरती पर खटखट बजा सीध में चल पड़ा।

भैरो भी अपने गाँव की ओर चल पड़ा। बीस वर्ष पुरानी बातें उसके मस्तिष्क में छाई जा रही थी। आंखो के सामने फैला अन्धकार और गहन हो उठा था और वह चला जा रहा था, अपने पथ पर।

बीस वर्ष तक प्रयत्न करते रहने पर वह आज इस योग्य हो पाया है कि एक बार फिर अपने पूर्वजो की बखरी का स्वामी हो सके। उसे वह दिन याद आ गया जब वह शिवशंकर के पास गया था, अपनी बखरी को बेचने। शिवशंकर उसका बचपन का साथी। उसके पिता ने काफी संपत्ति पैदा की थी। महाजनी करते थे। मर गए और शिवशंकर को व्यवसाय और धन दोनो ही दे गए। शिवशंकर से उसने कहा था अपने पुरखो की यह बखरी वह किसी मूल्य पर भी न बेचता पर समय की विवशता है। किसी के ऋण का तकाजा वह नही सह सकता। इन्ही हाथो से उसने जाने कितनी सपत्ति बढ़ाई थी ! कमाई न सही, पर उसे विश्वास था कि एक दिन वह अवश्य कमाएगा और तब—हाँ तब वह अपनी बखरी फिर वापस कर लेगा।

और शिवशङ्कर ने कहा था—"भैरों, तो इसमें इतनी दुःखी होने की बात भी क्या है ? हम तुम कुछ दो तो नही हैं न ! आखिर हममें एक ही पूर्वज का तो रक्त है न ! बखरी तुम्हारे पास रहे या मेरे पास, बात एक ही है।"

हाँ, दोनों एक ही वंश के हैं, परन्तु भैरो यह कैसे स्वीकार करता कि बखरी उसके हाथ से चली जाय—"हाँ, यही तो सोच कर तुम्हारे पास आया हूँ। पर मैं यह अपनी बखरी सदा के लिए नही बेचता। तुम्हारा रुपया मैं अवश्य दे दूँगा।"

सो इस प्रकार बखरी शिवशंकर के पास आई थी।

बेचते समय उसे कितनी मार्मिक पीड़ा सहनी पड़ी थी। यौवन के प्रभात से ही वह कितने मधुर स्वप्नों को संजोता आ रहा था। रागिनी के साथ वह शैशव में ही खेला था और शैशव का वही स्नेह जब समय पा यौवन के साथ अठखेलियाँ कर उठा तो उसने सोचा था कि एक दिन रागिनी को अपनी बनाकर वह इस बखरी में लावेगा। बहुधा गाँव से दूर खेतों की मेड़ पर बैठ कर, वे अपने भावी जीवन की योजनाएँ बनाया करते। परन्तु एक ही क्षण में उसके वे स्वप्न टूट गए। बखरी शिवशंकर के हाथ बेचकर वह गाँव छोड़ कर चला गया था।

परन्तु रागिनी की स्मृति उसके हृदय को खाती ही रही। उसे लगता जैसे रागिनी आज तक उसकी प्रतीक्षा कर रही है। वह उन स्वप्नों को सच करने के लिए ही अपनी आँखें फैला भविष्य में कुछ पाने की आशा जोह रही है। बहुधा वह सोचता—शायद रागिनी का विवाह हो गया हो; बीस वर्ष तक कोई किसी की बाट जोह भी कैसे सकता है। पर यह विचार उसे कितना अप्रिय लगता था; कभी भी वह इसे अपने मस्तिष्क में अधिक देर तक ठहरने नहीं देता था। नहीं—नहीं! उसकी रागिनी उसकी प्रतीक्षा करेगी।

उसने अब काफी सम्पति एकत्र कर ली है। शिवशंकर का रुपया दे वह अपनी बखरी वापस ले लेगा और फिर वह और रागिनी उसे एक बार पुनः बसा देंगे।

गाँव आ गया तो उसकी विचार धारा टूट गई। वह चकित दृष्टि से बीस वर्षों से अनदेखे गाँव को निहारने लगा। बीस वर्ष बाद भी, कहीं भी वहाँ कोई भी परिवर्तन तो नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा लगता है जैसे सब कुछ वैसा ही हो। यह सभी घर वैसे ही तो बने हैं। सभी कच्चे के कच्चे। गाँव भर में उसी का घर तो पक्का था। और गाँव में ही क्यों,

आसपास के किसी भी गाँव में एक भी पक्का मकान नहीं। हर्ष से उसका हृदय खिल उठा।

बखरी के सामने आकर वह रुक गया। दरवाजे पर कोई नहीं था। पर एक दीपक टिमटिमा कर उन दीवारो के भीतर जीवन के अस्तित्त्व की कहानी कह रहा था, आकर वह द्वार पर रुक गया; क्षण भर वह उन दीवारो को वर्षों से संजोए स्नेह के साथ निहारता रहा।

तभी एक दस बारह बरस का लड़का बाहर आया। उसे देख उसने ड्योढ़ी पर से ही पूछा —"किसे पूछ रहे हो ?"

"शिवशंकर को।" उसने कहा।

लड़के ने आश्चर्य से प्रश्नकर्ता की ओर देखा, फिर उत्तर दिया,

"वे तो कभी के मर चुके, क्या तुम्हे नहीं मालूम ? परदेशी हो क्या ?"

"मर गए !" आश्चर्य से उसने पूछा।

"हॉं !"

वह स्तब्ध खड़ा रहा।

तभी एक प्रौढ़ स्त्री बालक को पुकारते हुए बाहर आई। सफेद सी धोती पहने थी। भैरों की दृष्टि उसे पहचान गई। दीपक के अन्धेरे प्रकाश में दोनो की आँखें टकरा गई। आगन्तुका मूर्ति सी अडिग खड़ी रही। भैरो की आँखो के सामने से उसकी मूर्ति बदलती जा रही थी। क्षण भर में ही उसके सामने बीस वर्षों पूर्व की नवयुवती रागिनी खड़ी थी।

सहसा जैसे उसे सब बातें समझ में आ गईं। रागिनी के लिए ही तो उसने बखरी को फिर लेने का निश्चय किया था। इतनी दूर यात्रा कर के यहॉ आया पर रागिनी तो उसे पहले ही पा गई। अब......।

आगन्तुका भीतर चली गई थी। वह क्षण भर बच्चे को निहारता रहा, फिर उसे अपने पास बुलाया। जेब से उसने नोटों का बन्डल

निकाला। उसकी बीस वर्षों की कमाई। काँपते हाथों से वह बंडल उसने लड़के के हाथ में पकड़ा दिया और फिर एक ओर को, उसी ओर जिधर से आया था, चल पड़ा। रात्रि का अन्धकार उसे ढंकता जा रहा था— फिर वह अन्धकार में डूब भी गया।

पर उसे सन्तोष था। बखरी का मूल्य उसने शिवशंकर के उत्तराधिकारी को दे दिया। अब उसे लेकर वह भला क्या करेगा! रागिनी उसकी स्वामिनी तो है ही न!

टप् टप्! दो बूँदें आँखों से टपक अन्धकार की चादर में दो धुंधली लकीर बनाकर लोप हो गईं—

नागिन

मिर्जापुर रेलवे स्टेशन। रात को साढ़े ग्यारह बजे बम्बई मेल छूटी। गाड़ी के चलने पर जब हवा डिब्बे में आई तो हमने एक लम्बी साँस ली। किसी प्रकार चढ़ तो आया था पर अब बैठने के फेर में चारो ओर निहारने लगा, पर जगह कहाँ थी। जो दो चार भले आदमी स्टेशन आने पर जाग गए थे वे पुनः बैठे ही बैठे आँखें बन्द कर झपकियाँ लेने लगे थे। हमें डिब्बे भर में ऐसा कोई भी न दिखाई पड़ा जिससे थोड़ा सरकने की भी प्रार्थना कर सकते। बड़ी देर यों ही देखते देखते कोने में ऊँघते उस बूढ़े पर मेरी आँखें गईं

सरकते सरकते, लोगों की नींद जगाते हम उस बूढ़े तक पहुँचे, फिर बड़े प्रेम से उसके घुटनों को हिलाकर हमने जगाया। सिर ऊपर उठाकर आधी मिनट तक वह हमें अजीब तरह से घूरता रहा। फिर बोला—

"कहो।"

"जरा यह गठरी ऊपर रख लो और हम यहाँ बैठ जाँय।"—हमने कहा। बिना कुछ कहे सुने उस बूढ़े ने अपनी टांगो पर गठरी रख ली। हमने सोचा, यह बूढ़ा भला आदमी है। इसलिए गठरी मैंने ही अपने से ऊपर के बर्थ पर रख दी

बैठकर हमने देखा बाहर घोर कालिमा थी। आज बदली भी छाई थी, अँधेरे का कुछ पूछना ही न था। ठंडी हवा कभी कभी डिब्बे मे घुसकर किसी सोते मुसाफिर को छेड़ देती और वह मुसाफिर तिलमिला उठता। एक बार दृष्टि घुमाकर चारो ओर देखता, सब कुछ ठीक पा फिर सिर नवा लेता। मुझे यह अजीब सा लगा। डिब्बे में बन्द हम सभी मुसाफिर एक एक कीड़े से थे। बाहर के अन्धकार भरे संसार का इस संसार से कुछ मतलब न था।

तभी घूमकर हमने बूढ़े की ओर ताका। वह अब भी एकटक हमें ही घूर रहा था।

यह ऐसा क्यो? मेरे दिल में खटका हुआ। हमने पूछा—"बाबा, कहाँ तक जाओगे?"

हमने उसे बाबा कहा। वह था भी बाबा ही कहाने योग्य। बूढ़ा काफी था, दाढ़ी और मूछ खिचड़ी थी, सिर पर पुरानी पगड़ी थी। देखने मे वह जरा अधिक गम्भीर और भद्र मालूम पड़ा। बाबा के उत्तर में उसने कहा—

"बेटा, मैं ससराम तक ही जाऊँगा। इसके बाद मेरी भी जगह तुम ले लेना।"

हमे इस बात पर लज्जा मालूम हुई, क्योंकि हमारे पूछने का यह तात्पर्य कभी न था। उसने कहा—"मैं समझता हूँ तुम्हे काफी दूर जाना है और दूर की सफर में अधिक तकलीफ उठाने से बीमार पड़ जाने का डर रहता है।"

"हाँ, हमें कलकत्ते जाना है।" बूढ़े के निकट होते हुए हमने कहा।

"किसी भले घर के लड़के मालूम होते हो ? शायद ब्राह्मण या खत्री हो ?"

"हाँ, हम खत्री हैं।" हमें बूढ़े की इस अनुभव-दृष्टि पर आश्चर्य हुआ।

इसके बाद उसने हमें घूर कर एक ठंडी साँस छोड़ी और बाहर से अन्धकार को अपनी कमजोर दृष्टि से भेदने की कोशिश करने लगा। मुझे भी न जाने क्या हुआ कि उसे देख कर यह समझते देर न लगी कि उसे इस समय परेशानी हो रही है और शायद कारण मैं ही हूँ।

"पर आप इतने परेशान क्यो हो गए ?" हमने अनायास ही पूछा।

"कुछ नही। तुम अगले स्टेशन पर यह डिब्बा बदल देना।"

"क्यो ?" हमें डर लगा।

"मान लेना इस बूढ़े की बात। इस डिब्बे में एक नागिन है, कहीं तुम्हे डस न ले !"

"नागिन ! कहाँ ?"—हमने कहा।

वह एक सूखी हँसी हँसा और बोला, "वह देखो।"—उँगलियाँ उसकी दूसरी ओर के बर्थ पर थी। हमने उसी ओर ताका।

एक युवती बेखबर सो रही थी—शर्म के स्थान पर बेशर्मी का झंडा ऊँचा किए हुए। हमें देख कर अजीब सा लगा। डिब्बे के इतने लोगों के सामने भी क्या कोई स्त्री यो सो सकती है ? हमारे मन में प्रश्न उठा। उसके सिर से सिर मिलाए हुए एक पुरुष भी लेटा था—आधे बाँह की सफेद कमीज और एक पैजामा पहने। सिर के बाल बड़े बड़े थे गुन्डों के से।

"तो यही नागिन है ? हो सकती है।"

उसकी ओर से घूमकर हमने बूढ़े को ताका। उसने कहा—"देखा! बस मेरी परेशानी के कारण तुम्हीं दोनो हो।"

"हम?..."

"हाँ। तुम हो भले और दुनिया के नए मुसाफिर और वह न जाने कितना रास्ता तय कर चुकी।"

"पर उससे हमें क्या?"

"अभी दुनिया से तुम्हारी नई दोस्ती है।"

हमें सब कुछ भूला भूला और नवीन सा लगा। इस बात को परेशानी का कारण समझकर हमने उसे रोकने को डिब्बे के बाहर देखना आरम्भ किया। अन्तरात्मा काँप उठी। यह बूढ़ा, यह नागिन, ये सारे डिब्बे के भले आदमी और बाहर यह अन्धकार ओढ़े रात्रि, सारा वातावरण ही हमें अजीब सा लगा।

"इधर देखो।" बूढ़े ने कहा।

हमने देखा।

"डर गए! मर्द हो, घबड़ाओ नहीं।" बूढ़े का गला भर आया।

"यह कौन है?" हमने भरी आवाज में पूछा।

"यह! यह दिल्ली की एक मशहूर वेश्या है। मैं भी वहीं से आ रहा हूँ।"

वेश्या! वेश्या!! कैसे गन्दे शब्द हैं ये। लगा, ये पत्थर बन कर मेरे सिर पर गिर रहे हैं।

"मैं बिल्कुल सच कहूँगा। इनके चङ्गुल से हर जवान को बचना चाहिये।"

उसका मुँह निहारते हम देखते रहे और बूढ़ा आप ही आप न जाने किस प्रेरणा-वश कहने लगा—

"देखो, मैं जो कहता हूँ वह सब सच है। मुझसे कुछ छिपा न था। वह बिलकुल तुम्हारी उम्र का था। क्या उम्र है तुम्हारी बेटा ?"

"इक्कीस साल।"

"बिलकुल ठीक, इतनी ही थी। बिलकुल तुम्हीं जैसा सुन्दर और जवान वह था। तुम्हारी तरह वह भी नया पथिक था। रास्ता उसे मालूम न था, इसी लिये तो......।" क्षण भर आँखें बन्द कर के वह रुक गया।

"वह तुम्हारी ही तरह भोला था। भले घर का लड़का था, इसीलिए तो अधिक कोमल भी था। उसे आदमी की पहचान न थी। सभी उसकी नजर में भले थे। उसे दुनिया के खेल का छक्का-पंजा मालूम न था। एक दिन कालिज से आकर बोला—"महादेव, आज खाना न बनाना। सिनेमा जायँगे, वहीं खा लेंगे।" वह गङ्गापूर के जमींदार का लड़का था। मैं था कारिन्दा, पर उसकी माँ के मरने के बाद मैंने उसे कलेजे से लगा कर इतना बड़ा किया था। दूसरी माँ से उसकी नहीं पटी सो पढ़ाने के बहाने बाबू साहब ने हमें साथ करके शहर भेज दिया था। वह सदा शहर में ही रहा।

"हाँ तो उस दिन खाना नहीं बना। मेरी भी तबीअत अच्छी न थी सो मैं भी आलस में पड़ गया। रात को बड़ी देर में वह लौटा। चुपचाप खाट पर जाकर लेट रहा। मैंने पूछा, "बाबू! खा-पी लिया है या भूखे ही हो? कुछ लाऊँ?

"नहीं महादेव!"

"बस उसने यही कहा, पर मुझे समझते देर न लगी कि आज उसने शराब पी है। मैंने सोचा कोई बात नहीं। बहुत बड़े घर का है सो सभी कुछ करना चाहिये। आज शराब, कल कुछ और।

"मैं लौट कर अपनी खाट पर लेट गया। घन्टों सोचता रहा। यह

मदन मुझे कितना प्यार करता है पर क्या मेरे कहने से भविष्य में शराब से घृणा करने लगेगा ? पर यह असम्भव है। शेर के मुँह में खून लग जाता है तो कभी डरना नहीं। तभी रात को ही उसने पुकारा। शायद नशा उतर गया था! मुझे पास पा वह लगा बच्चों सा गिड़गिड़ाने—"महादेव, आज गलती हो गई। मैं कभी नहीं पीता था। हाँ, आज मैंने एक खूब सुन्दर लड़की देखी है। वह भी सिनेमा देखने आई थी। सुन्दर खूब है।" मैं चुप रहा और मदन पागलों सा कहता गया—

"मुझे वह बड़ी अच्छी लगी! कभी मिलेगी तो तुम्हें भी दिखाऊँगा, पर मुझे माफ कर दो।"

"अच्छा सो जाओ बाबू।" मैंने कहा।

फिर मदन सो गया। उसने माफी माँगी थी। यह उसकी आदत थी। अपने हर अच्छे-बुरे कामों का वह मुझसे वर्णन अवश्य करता और माफी माँग लेता पर माफी का कुछ प्रभाव न पड़ता।

फिर दूसरे दिन भी शाम को मुझसे उसने रुपया माँगा। मैंने दे दिया और वह चला गया।

पर उस दिन से उस सिनेमावाली सुन्दर लड़की ने उसे घायल कर दिया था। रह रह कर वह छटपटा उठता था। पढ़ने बैठता तो उसका मन न लगता और उसी लड़की के सोच में वह काफी समय नष्ट कर देता।

वह ना समझ था न, इसलिए समझा कि उसने उससे प्रेम शुरू कर दिया है, पर दुबारा तो उसने उसे देखा भी न था और जितना प्रेम मदन कर रहा था उससे उसे तसल्ली भी न थी।

यद्यपि मदन ने मुझसे सब छिपाने की कोशिश की पर लड़कपन से मैंने उसे पाला था। उसकी नस नस से मैं परिचित था। उसके दिल में होनेवाली एक एक धड़कन से मैं पूर्ण परिचित था। उसकी प्रत्येक अच्छी

और बुरी आदत मुझे ज्ञात थी। यह समझते मुझे देर न लगी कि वह उस अज्ञात लड़की के रूप-जाल में बुरी तरह उलझ गया है।

एक दिन वह अपने मनचले साथियों के चक्कर में पड़कर गाना सुनने गया। यद्यपि इस पतन के मार्ग के लिए वह कदापि दोषी न था फिर भी जवानी का जोश था, सब कुछ सम्भव था। मजबूर होकर वह गया। शायद तुम समझ गए होगे ?"

"नहीं, हमने कुछ नहीं समझा।" हमने उत्तर दिया।

तभी हम लोगों ने यह अनुभव किया कि गाड़ी की चाल धीमी हो रही है। झाँककर बाहर देखा। आगे शायद कोई स्टेशन था। चारों ओर बिजली के लट्टू ही दिखाई पड़ रहे थे।

"यह कोई स्टेशन है।" हमने कहा।

"हाँ, मुगलसराय होगा।"

सचमुच गाड़ी मुगलसराय के प्लेटफार्म पर आ खड़ी हुई। भीड़ की अधिकता के कारण डिब्बे भर के लोग जाग गए पर प्लेटफार्म दूसरी ओर था, इसलिए हम लोग अधिक परेशान न हुए और बूढ़े ने फिर कहना शुरू किया—

"हाँ, तो यह वही लड़की थी जिसके लिए मदन पागल हो रहा था।"

"क्या वह वेश्या थी ?" मुझे अचम्भा हुआ।

"हाँ, वह वेश्या थी। उस सड़क की सबसे मशहूर पान की दुकान के ऊपर उसका कोठा था। बगल से सीढ़ी पर चढ़ने का रास्ता था। मदन जब वहाँ पहुँचा तो जब नीचे ही था तभी उसके कानों में सुरीली तानें बहने लगीं। उसके सारे शरीर में रोमांच की लहर दौड़ गई। दोस्तों ने सीढ़ी पर पाँव रखे। वह सबके पीछे था। ऊपर जाकर सभी

एक सिलसिले से बैठ गए, पर मदन ने उसे जो यहाँ इस रूप में देखा तो दिल उसका तिलमिला उठा। उसे विश्वास न हो रहा था।

"तो यह वेश्या है! मैं मूर्ख हूँ।"

उसके मन में यही हो रहा था। उसकी उम्मीद की दीवाल बैठने सी लगी। लगा, मानो एक एक करके सभी ईंटें सरक रही हैं। हाँ तो उसके दिल की वह आदर्श-नारी वेश्या थी। उसका दिल बैठने लगा। क्या इसी वेश्या के लिए वह परेशान था। उसे लगा कि वह उठकर वहाँ से भाग जाय, पर लोग क्या कहेंगे? वह रुक गया। वह बिवश था।

गाना शुरू हुआ। वह गा रही थी—"पिराय मोरी अँखियाँ हमसे न बोलो।" आह! क्या दर्द है गले में। पीड़ा थी स्वर में। गाना सुन मदन सब कुछ भूलकर देखने लगा उसका सौन्दर्य और उसकी अदाएँ।

गाना बरबस हृदय की उस पीड़ा को उलट-पुलट देता था। दर्द बढ़ जाता था। वह रमणी और उसकी आँखें क्या अजीब चीजें थीं। मदन का सिर घूम गया। लगा, मानो कमरे की दीवालें चारो ओर से सरकती आ रही हैं और शीघ्र ही वह इन दीवालों से दब जायगा।

गाना समाप्त हुआ। अब शिष्टाचार के अनुसार उसने पान का बरतन अपने पास सरका लिया और एक एक को दो-दो बीड़े पान देने लगी। झुककर बड़ी नम्रता से वह पान भेंट करती और लोग बदले में एक या दो रुपए का नोट भेंट करते। मदन सबसे किनारे बैठा था और इस सभ्यता को सीख रहा था।

आखिर उसने मदन की ओर भी वैसे ही दो बीड़े बढ़ा दिए। झटपट मदन ने थाम लिए, यद्यपि कभी उसने पान खाए न थे और बदले में झट दस रुपए का एक नोट आगे बढ़ा दिया। दोस्तों को

देखकर आश्चर्य हुआ। एक ने जानकर खँखार भी दिया और उस वेश्या ने अदब से झुककर उसे आदाब अर्ज किया।

इसके बाद उसके सभी मित्र उठे। वह भी उठा। चलते चलते एक दोस्त ने पूछ ही लिया— "पर बाईजी का नाम ?"

"इस नाचीज को लोग मैना कहते हैं।"

"हाय ! हाय !" एक मित्र ने ठंढी साँस ली मानो उसे गर्मी लगी हो।

मदन को यह सब बुरा लगा, पर वह रास्ते भर मैना मैना रटता रहा। यह शब्द उसे बड़ा मधुर और प्रिया लगा।

घर आकर मदन कई दिनों तक उलझा रहा। किसी बात में उसका मन न लगता और यह ठीक भी था। उसकी प्रेमिका एक वेश्या निकली। उसका दिल यह सब कैसे सह सका होगा, तुम नहीं सोच सकते।

एक दिन मदन ने एक पत्र लिखा, "मैना, तुम मैना सी ही मधुर हो। इसमें कोई सन्देह नहीं। पर क्या तुम जान सकती हो कि तुम्हारी आँखो का दर्द यहाँ किस हद तक उतर आया है। काश !"

तीन दिन तक उसने उत्तर की प्रतीक्षा की, पर उत्तर न आया। उसने फिर एक पत्र लिखा—

"इस मरीज का रोग अन्य रोगियों से अधिक भयानक है। दवा आवश्यक है, वर्ना,.....।'

पर इसका भी उत्तर नदारद था। मदन हर तीन रोज पर उसे एक पत्र लिख दिया करता पर उत्तर नहीं आया, नहीं ही आया।

आखिर एक दिन ऊबकर और कोई चारा न देख वह फिर मैना के कोठे पर गया। बाहर से ही उसने देखा। कई उसी जैसे उसको रिझा रहे थे और पीछे वह भी बैठा रहा।

फिर एक, दो, तीन, चार, उसके कई प्रेमी आए और गए ' नाँता एक बजे तक न टूटा। जब सब चले गए तो मैना ने उसे देख आश्चर्य से पूछा "आप अभी तक बैठे ही हैं ?"

"हाँ।" कहकर जेब से उसने दस दस के दो नोट निकाले। मैना ने सहज मुसकान से उसका स्वागत किया और मदन ने कहना शुरू किया। कि दिल की इतने दिनों की दबी आग दहक उठी थी। उसने सब कुछ कह डाला।

"तो आप ही रोज पागलों के समान चिट्ठी भेजते थे। मैंने तो उन्हें पढ़ना भी छोड़ दिया है, यों ही फाड़ डालती हूँ।"

"तो क्या तुम उन्हें पढ़ती भी नही ?"

"नहीं, कोई काम की बात भी रहती है ?"

मदन का दिल इस पर टूट गया। उसने सोचा कि चिट्ठी में कोई लाभ की बात नहीं ! कहीं चिट्ठी सा ही मुझे भी न निराश होना पड़े। किसी दिन मैं भी ऐसा ही बिना काम का हो जाऊँगा।

इसके बाद वह चला आया। घर पर दो दिनो तक वह खाट से न उठा। निराशा और थकान उसकी हर हड्डी में भर गई थी। पर फिर भी मैना को वह अपने मन से निकाल न सका।

उसने छः दिन बाद खीझकर एक पत्र और लिखा —"मैना, मुझे खोकर तुम्हें दुःख होना चाहिए। मैंने जान लिया कि तुम वेश्या हो, नारी जाति का कलंक हो। तुम्हारा झूठा शृंगार, झूठा आकर्षण क्या तुम्हें समझा सकता है, जिससे तुम अब भी सम्हल सको। यह जरूरी...।"

पर उत्तर फिर भी न आया और आता भी क्यों। मैना ने चिट्ठी पढ़ी ही न होगी। ऐसे ऐसे न जाने कितनो को वह रास्ता दिखा चुकी थी।

मदन अब पूर्णतया निराश था। वेदन उसमें भर गई थी। दुःख, पीड़ा, वेदना, ईर्ष्या अपना स्वरूप भयानक बनाकर सामने नाचने लगा थी। प्रेम, सौन्दर्य, तृष्णा, घृणा इन सब में उसे कुछ भी अन्तर न मालूम हुआ।

इसी खींचातानी में कई महीने बीत गए। मैना के दुर्व्यहार तथा चिन्ता ने मदन को आधा कर दिया। मैना की नारी को वह जितना ही सुलझाने का प्रयत्न करता, वह उतनी ही उलझती जाती। वह दांव चलाता, वह छिटक जाती। मदन की पकड़ के वह बाहर थी।

एक दिन मैंने कहा—"बाबू, अपनी तन्दुरुस्ती का खयाल नहीं करते ? शीशे में देखो कितना अन्तर आ गया है।"

"क्या सचमुच मैं पहले सा नहीं हूँ ?"

"नहीं बाबू ! तुम बिलकुल आधे हो गए हो।"

"हाँ महादेव, पर मेरे लिए इतने परेशान क्यों हो ?"

"फिर यहाँ तुम्हारी देखभाल करनेवाला कौन है ? भला बाबू साहब को क्या मुँह दिखाऊँगा, तुम्हारी इस दशा पर।"

क्षण भर बाद उसने कहा—"महादेव ! मैंने जान लिया कि दुनिया झूठी है कागज की नाव है, छली है, फरेबी है। पर तू सच्चा क्यो है !"

इसका मेरे पास कोई उत्तर न था।

फिर आखिर वही हुआ जिसका मुझे डर था। एक दिन मदन ने खाट पकड़ ली।

वह बुखार मे बड़बड़ा रहा था—"मैना ! मैना ! मेरे मरने का पाप तुझ पर लगेगा। मुझे सताएगी तो मैं भूत बन कर तेरे सिर पर सवार होऊँगा।।तुझे कभी चैन से न रहने दूँगा। हाँ—हाँ—हाँ।" फिर बेहोश हो गया।

मैं घबड़ा गया। डाक्टर आए। एक घंटे में वह ठीक हुआ। मैंने शान्ति से कहा—"बाबू! अब घर चलना जरूरी है। चलो, चलें।"

"नहीं महादेव, अब मरने वहाँ न जाऊँगा।"

"दिल न छोटा करो बाबू। अच्छे हो जाओगे।"

"नहीं महादेव, अब हम जान गए। मैं जिऊँगा नहीं। देखो हमें यम का भैंसा दिखाई पड़ा था रात को। मौत ने मुझ पर फन्दा डाल दिया है।"

मैं उसे विश्वास न करा सका कि वह ठीक हो जायगा। डाक्टरों से सलाह ली तो पता लगा कि टाइफाइड है। इक्कीस दिन में अच्छा हो जायगा।

एक दिन दशा बड़ी खराब थी। बुखार से बुत्त मदन ने कहा—"महादेव! अब मैं मरनेवाला हूँ। जाओ, एक बार उसे बुला लाओ। मरने से पहले देख लूँ।"

मैंने समझाया—"सो जाओ बाबू, साँझ को बुलाऊँगा। वह अवश्य आवेगी। तुम सो जाओ।" सब्र करके वह सो गया।"

हमने देखा बूढ़े की आँखें बरसने लगी थीं। मैंने उधर से मुँह घुमा लिया और सुनता रहा।

"शाम को उसने फिर कहा, "महादेव! क्या उसे न बुलाओगे? जिन्दगी भर सुख दिया है, क्या अब शांन्ति से मरने न दोगे?"

बात मेरे दिल में तीर सी लगी। शाम को मैं गया। उसके कोठे के नीचे घंटों खड़ा रहा। सोचा, सन्नाटे में चलूँ और सारी बातें कहूँ पर वह सन्नाटा हो तब न। आने जानेवालों का ताँता लगा रहा। थोड़ी देर बाद एक आदमी आया। शायद वह शराब पीए था, कारण उसकी चाल वैसी ही थी। वह भी ऊपर चढ़ा। फिर दो-तीन मिनट

बाद मैंने जोर २ का शोर सुना। शायद किसी से लड़ाई हो रही थी। फिर उसके बाद मैंने देखा कि वही शराबी सीढ़ी से लुढ़कता नीचे आया। शायद किसी ने उसे ढकेल दिया था। नीचे आकर वह सम्हला और फिर उठ कर बुरी बुरी गालियाँ देता एक ओर बढ़ गया।

यह सब मुझे अजीब सा लगा। मैं यों ही लौटकर वापस आ गया। मदन से मैंने बहाना कर दिया कि वह मुजरे में गई है। फिर लगातार मैं तीन दिन तक बहाने ही बनाता रहा। एक दिन मदन ने कहा—

"तुम झूठे हो। क्यों मेरी तड़पती पीड़ा पर भी दया नहीं खाते। महादेव, अब भी जाओ न!"

फिर उस दिन हिम्मत करके मैं उसके कोठे पर चढ़ा-देखा वह कमरे से निकल रही थी। मैंने उससे कुछ कहना चाहा कि उसने बिना सुने ही झिड़क दिया। नीचे मोटर खड़ी थी। जाकर वह बैठ गई। कोई बाबू साहब मोटर में इन्तजार कर रहे थे।

लौटा तो मैं बिलकुल झुँझलाया था और कह दिया, "बाबू, आप तो मैना मैना रट कर मर रहे हैं और वह उड़ी चलती है। कहीं गई है मोटर से, बात भी नहीं सुनती।"

"बात भी नहीं सुनती!" कराहकर मदन ने दुहराया।

तीन दिन और बीते। शाम का समय था। आराम कुर्सी पर बैठाकर हम लोग उसे दरवाजे पर लाए। कई दिनों से वह कह रहा था।

तभी सड़क पर घोड़े की टप टप के साथ एक फिटन निकली। किसी के साथ वही घूमने जा रही थी।

देखकर मदन की आँखें पथरा गईं। सम्हालकर हम उसे भीतर ले गए और इसके एक घंटे बाद उसने साँसें तोड़ दी।"

कहते कहते बूढ़ा चुप हो गया। क्षण भर बाद हमने देखा बूढ़ा अपनी चद्दरा लपेट रहा था और गाड़ी की चाल भी धीमी पड़ रही थी।

एक मिनट बाद गाड़ी ससराम स्टेशन पर रुकी। उतरकर उसने मेरी पीठ थपथपाकर कहा—"भलों का साथी भगवान है। घबड़ाना मत।" और वह बढ़ा चला गया। गाड़ी भी चली।

अपने चारों ओर हमने एक सूनेपन का अनुभव किया। घबड़ाकर ऊपर देखा—वह नागिन अँगड़ाई ले रही थी। उसकी गोरी गोरी बाँहें...! ओह !!

डरकर हमने घुटनों में मुँह छिपा लिया।